❀ ओ३म् ❀

उत्तम जीवन

(THE GOOD LIFE)

मो० क० गांधी

संपादक—जगप्रवेशचन्द्र

चढ़ने के बाद अधिक से अधिक यही होगा
के लिये अपनी विजय और सफलता
ी) की प्रसन्नता में फूला न समायगा।
किन् र विजय पाने का प्रतिफल आत्मिक सुख
(रुहानी राहत) है, जो कभी घटता नहीं बढ़ता ही चला जाता है।

मो० क० गांधी

उत्तम जीवन ?

गाँधीजी की काम करने की इतनी प्रबल शक्ति का वास्तविक रहस्य क्या है ?

वह कौनसी शक्ति है जिसके द्वारा वे अपनी ७४ वर्ष की आयु में भी इक्कीस दिन तक निरन्तर उपवास करते रहे ?

उनकी प्रचण्ड और अनुपम आत्म-शक्ति (इख्तियारी ताक़तें) उनके कट्टर शत्रुओं के हृदयों में भी स्पर्धा (रश्क़) उत्पन्न करती है।

उनकी अपनी सभी इन्द्रियों पर संयम वर्तमान युग में एक विचित्र घटना है

केवल उन लोगों के लिये यह एक पहेली है जो गाँधीजी के रहन-सहन से अपरिचित हैं। किन्तु यह मानी हुई बात है कि वे संसार के प्रथम श्रेणी के कल्याण करने वाले महात्माओं में से एक थे और वे अपनी कोई भी बात छिपा कर नहीं रखते। वे न केवल अपने प्रयोगों में लोगों को भागीदार ही बनाते थे परन्तु कष्ट उठाने वाले मनुष्यों को उन अनुभवों (तज़रबों) से लाभ उठाने के लिये विनय भी करते थे। हिमालय के सिरे पर चमकती हुई श्वेत बर्फ गिरती है ; किन्तु भूमि धूल और मट्टी से ढके रहते हैं। गाँधीजी का व्यक्तित्व हिमालय की तरह ऊँचा था। केवल बर्फ के समान चमकते हुए विचार ही उनके मन में उदित होते थे। जब वे उन ऊँचे विचारों को वाक्यों में रखकर प्रकट करते थे तब वे गंगा की छोटी-छोटी सहायक नदियों की तरह दिखाई देते थे। गंगाजी तो लाखों पुरुषों और स्त्रियों से पूजी जाती है किन्तु गाँधीजी की विचार-धारा ने तो संसार में चेतना प्रवाहित कर दी है।

गाँधीजी का बाल्य-जीवन विषय भोग में बीता। किन्तु जब वे अन्धकारमय आचार हीनता के जगत् में एक अज्ञान और अभिमानी पतंगे की भांति मृत्यु के नाच में व्यस्त थे, तब उस अज्ञान के अन्धकार में उन्हें एका-एक सत्य का प्रकाश आभासित हुआ। भूल से जिसे वे प्रकाश माने हुए थे वह केवल एक चमक ही निकली। भोगवासना में जो जीवन नष्ट हो रहा था वह ठीक उस मकड़ी के समान था जो अपने मुँह से धागा उगल कर जाला तानती है और अन्त में उसी जाले में फँसकर दम घुट जाने से मर जाती है।

उन्होंने ब्रह्मचर्य को निभाने का पक्का व्रत कर लिया। उनका ब्रह्मचर्य का क्षेत्र छोटा नहीं है। केवल शरीर का संयम कर लेना ही पर्याप्त नहीं। इस ऊँचे आदर्श को निभाने के लिये सभी इन्द्रियों और मन पर सम्पूर्ण विजय पाना अत्यावश्यक है। ऐसी पवित्रता के उच्च शिखर पर पहुँचने के लिये उन्होंने अचल इच्छा-शक्ति को बढ़ाया। वे किस प्रकार इसमें सफल हुए उसका पूरा वर्णन इस ग्रन्थ में दिया गया है। हम सभी इस बात को जानते और अनुभव करते हैं कि मन को वश में करने की कितनी आवश्यकता है और उससे कितना भारी लाभ है। किन्तु हमारी इच्छा शक्ति की दुर्बलता हमें पीछे धकेलती है। इस पुस्तक में गाँधीजी के ब्रह्मचर्य सम्बन्धी सभी प्रकार के विचार दिये गये हैं और यह भी बतलाया गया है कि ब्रह्मचर्य का पालन किस प्रकार हो सकता है।

प्रत्येक माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे अपने बढ़ती हुई आयु के बच्चों को यह पुस्तक भेंट करें। जीवन में इसके अनुसार आचरण करने से वे शरीर से और मन से दृढ़ और अच्छे बन जाने का बीमा कर लेंगे। झूठे मोह में फँसने से बचेंगे और प्रलोभनों के कष्ट का कीर्ण मार्ग से बच सकेंगे।

उत्तम जीवन

(THE GOOD LIFE)

मो० क० गाँधी

—: संपादक :—
जगप्रवेशचन्द्र

—: अनुवादक :—
लक्ष्मीनारायण राजावत

—: प्रकाशक :—
इण्डियन प्रिण्टिङ्ग वर्क्स,
एम० एम० रोड, नई दिल्ली ।

मूल्य २॥)

मुद्रक तथा प्रकाशक—
श्री नारायण दास कुमार
इण्डियन प्रिण्टिङ्ग वर्क्स, एम० एम० रोड
नई दिल्ली।

समर्पण

नवयुवकों को

निर्दोष सरल यौवन एक अमूल्य सम्पत्ति है। वह भोग-लिप्सा में—जिसे भूल से सुख कहा जाता है—लुटा देने की वस्तु नहीं है।

मो० क० गांधी

———

प्रकाशक का निवेदन

महात्मा गान्धी के लिखे ग्रन्थ के लिये किसी परिचय की आवश्यकता नहीं और 'उत्तम जीवन' (The Good Life) उनका लिखा हुआ ऐसा ग्रन्थ है जिसने पिछले कुछ वर्षों में भारत में और विदेशों में उन की आत्म-कथा के समान ही लोकप्रियता प्राप्त की है। हम इस ग्रन्थ की तीन आवृत्तियां इससे पूर्व आङ्गलभाषा में प्रकाशित कर चुके हैं और चारों ओर से हिन्दी भाषी जनता की निरन्तर मांगों का सम्मान करते हुए हम हिन्दी में इसकी प्रथम आवृत्ति प्रकट कर रहे हैं।

यह ग्रन्थ जन्म से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य जीवन के प्रत्येक रूप पर प्रकाश डालता है और हमारे दैनिक जीवन की समस्याओं पर शान्ति, उत्साह और दृढ़ता से विजय पाने का मार्ग दिखाता है। हमें पूर्ण विश्वास है कि क्रियात्मक कर्म-योग के इस ग्रन्थ का भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी में भी उचित स्वागत होगा।

विषय सूची

पाठकों से

मुझे सन्यासी कहना भूल है। मैं अपने जीवन में उन्हीं आदर्शों (त)क पहुँचने का प्रयास करता हूँ, जिनके लिये सारी मानवता को प्रयत्न (क)रना चाहिये। धीमी धीमी चाल से चलते हुए मैं उन तक पहुँच पाया (हू)ँ। एक एक पग पर सोचा, अच्छी प्रकार विचार किया और बड़ी (स)ोच समझ से उन्हें अपनाया है। मुझे अपने अनुभवों से ही संयम (परहेज) और अहिंसा (बे-जब्र) का पाठ मिला है। जनता के प्रति (अ)पने कर्तव्य का विचार करने पर क्रिया में लाना आवश्यक प्रतीत हुआ। (ग)ृहस्थ, वकील, समाज-सुधारक और राजनीतिज्ञ की स्थिति में जो मुझे (द)क्षिण अफ्रिका में एकान्तता से रहना पड़ा है, उसमें मुझे अपने कर्तव्य (क)ो पूरी तरह निवाहने के लिये अपने देश के और यूरोप के लोगों के (स)ाथ कठोर संयम अहिंसा और सचाई का पालन करना आवश्यक था। (म)ैं एक सामान्य मनुष्य से अधिक योग्यता अपने में धारण करने का (द)ावा नहीं रखता हूँ। मुझे संयम और अहिंसा पर अधिकार बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ है। इस में रत्ती भर भी सन्देह मुझे नहीं है कि जिन जिन (क)ामों को मैं कर सका हूँ उन्हें दूसरे भी कर सकते हैं। यदि वे मेरी (त)रह प्रयत्न करें और उतना ही विश्वास और भरोसा रखें तो अवश्य (स)फल होंगे। बिना श्रद्धा (एतकाद) से कार्य करना किसी अगाध गहराई की गम्भीरता तक पहुँचने के प्रयत्न के बराबर है।

—हरिजन : अक्टूबर ३०, १९३६ ई०

— — — —

ऐसा तर्क क्यों करते हो कि मुझ जैसा मनुष्य भी अपवित्र विचारों से मुक्त नहीं रह सका तो फिर दूसरों का तो कहना ही क्या ? ऐसा क्यों नहीं कहते कि गांधी—जो किसी समय भोग-लालसा में बुरी तरह फंसा हुआ था, आज अपनी पत्नी के साथ भी मित्रता और भाईचारे का बर्ताव करता है। एक अत्यन्त रूपवती सुन्दरी को भी वह अपनी बहन और बेटी की तरह देखता है। फिर गिरे हुए और मार्ग भ्रष्ट के लिये आशा का द्वार किस प्रकार बन्द रह सकता है ? यदि ईश्वर ने इतने बड़े भोगी को भी गिरने से बचा लिया है तो अन्य को भी वह अपने कृपा-पूर्ण हाथों से सहायता पहुँचा कर अवश्य बचायेगा—ऐसा विश्वास रखिये।

—यंग इण्डिया : जून २३, १९२७ ई०

मो० क० गाँधी

उत्तम जीवन

भाग १

हृदय में बैठालो

यदि प्रत्येक स्त्री-पुरुष दृढ़ता से इस बात को मन में ठान ले कि जननेन्द्रिय का एकमात्र उच्च लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति है, तो फिर भोग-विलास के जीवन में फंसकर अपनी अमूल्य शक्ति को नष्ट कर के वे भयंकर अपराध नहीं करेंगे। अब यह बात स्पष्ट समझ में आसकती है कि प्राचीन विद्वानों ने रज और वीर्य को इतना मूल्यवान् क्यों समझा और क्यों इस बात पर बल दिया कि समाज के कल्याण के लिये उन्हें एक प्रबल शक्ति के रूप में परिणत कर दिया। वे दावे के साथ कहते हैं कि जिस स्त्री पुरुष ने अपने रज वीर्य को ठीक प्रकार से सम्हाल कर रखा है, उसने अपने शरीर, मन और आत्मबल को सुदृढ बना लिया है। जो शक्ति किसी अन्य उपाय से प्राप्त करना असंभव है, वह इसके द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

पाठक! आप किसी ब्रह्मचारी के जीते-जागते प्रत्यक्ष आदर्श को न पाकर घबरायें नहीं। आजकल हम जिन ब्रह्मचारियों को देखते हैं, वे अधूरे ही हैं। अधिक से अधिक वे ऐसे साधक माने जा सकते हैं, जिन्होंने अपने शरीर को तो वश में कर लिया है किन्तु मन को नहीं। वे सांसारिक प्रलोभनों पर विजय नहीं पा सके हैं। इससे यह नहीं मान बैठना चाहिये कि ब्रह्मचर्य का पालन इतना कठिन है। सच तो यह है कि हमारे समाज की वर्तमान स्थिति उसके प्रतिकूल है।

जिनके प्रयत्न शुद्ध हृदय से हैं, उनमें भी अधिकांश ऐसे हैं जो बिना समझे-बूझे अन्य सभी भोग विलासों को छोड़ कर केवल काम-वासना को ही जीतना चाहते हैं। किन्तु सच्ची सफलता पाने के लिये उन्हें उन सभी बुरे व्यसनों को छोड़ने की आवश्यकता है, जिनके मनुष्य शिकार होते हैं।

वास्तव में एक सामान्य स्त्री-पुरुष के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करना असम्भव नहीं है। फिर भी एक साधारण विद्यार्थी को किसी विशेष विषय का ज्ञान पाने के लिये जितने परिश्रम की आवश्यकता है उससे कम में इसे प्राप्त करना संभव नहीं है। यहाँ ब्रह्मचर्य को पाने का यह तात्पर्य है कि उस कला को जानना, जिसके द्वारा उत्तम जीवन बिताना सीख लिया जाय। —हरिजन : मार्च २१, १९३६ ई०

एक ऐसा पदार्थ जिसमें मनुष्य जैसे अनोखे जीव को उत्पन्न करने की क्षमता है, उसका रक्षण यदि ठीक ढंग से किया जाय तो वह एक अनुपम शक्ति और बल के रूप में परिणत हुए बिना न रहेगा। शास्त्रों की इस अमूल्य शिक्षा की जाँच प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अनुभव से कर सकता है। यह बात जैसी मनुष्यों पर चरितार्थ है वैसी ही स्त्रियों के लिये भी है। वास्तविक कठिनाई तो इस बात की है कि हम लोग काम वासना के बाह्य प्रकाशन ही से बचने के प्रयत्नों में लगे रहते हैं। उसकी जड़ तो सदा ही हमारे मन में जमी रहती है। इसका फल यह होता है कि हमारा शरीर और मन दोनों नष्ट हो जाते हैं और गीता के शब्दों में हमारा जीवन एक जीता-जागता झूठ या ढोंग बन जाता है।

—हरिजन : मार्च २०, १९३७ ई०

प्राचीन काल के ग्रन्थकारों ने रज और वीर्य के विनाश को एक बहुत भयंकर हानि कहा है। यह केवल अन्ध विश्वास अथवा अज्ञान

की बात नहीं है। यह तो बतलाइये कि हम उस किसान के विषय में क्या मत बनायेंगे जो अपने पास के अच्छे से अच्छे बीज को बंजर और पथरीली भूमि पर बोकर नष्ट करता है? हम उस खेत के स्वामी को क्या कहेंगे जिसके खेत की मिट्टी बहुत ही उपजाऊ है और बीज भी बढ़िया है, किन्तु बोता ऐसी परिस्थितियों में है कि उसका उगना असंभव हो? ईश्वर ने मनुष्य को जो बीज दिया है उसमें अनन्त शक्ति भरी पड़ी है। स्त्री को जो समृद्ध खेत मिला है उसकी समता संसार का कोई अच्छे से अच्छा खेत भी नहीं कर सकता। यदि मनुष्य अपनी इस अमूल्य निधि को व्यर्थ खो देता है तो वह एक भयंकर अपराध करता है। जिस सावधानी से वह अपने पास के हीरे मोतियों की सम्हाल करता है, उससे कई गुणा अधिक सावधानी इसके बचाव के लिये आवश्यक है। वैसे ही वह स्त्री भी पापमय मूर्खता करती है जो इस अनुपम उपजाऊ खेत में उस बहुमूल्य बीज को केवल नष्ट होने के लिये ही बोने देती है। पुरुष और स्त्री दोनों ही अपने गुणों को नष्ट करने के अपराधी ठहरेंगे। उनकी वह मूल्यवान निधि उनके हाथ से जाती रहेगी। पति-पत्नी का मिलन एक अच्छी और उत्तम वस्तु है इसमें लज्जा की कोई बात ही नहीं है। किन्तु यह केवल सन्तानोत्पत्ति करने के लिए ही होना चाहिए। उसका किसी अन्य प्रकार से व्यय ईश्वर और मनुष्यता के लिये पाप है। सन्तति-निरोध के उपाय पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। किन्तु प्राचीन काल में उनका स्वच्छन्द उपयोग न होता था। किन्तु अब बुराई को लोग अच्छाई मान रहे हैं। यह हमारे लिये दुर्भाग्य की बात है। सन्तति-निरोध के उपायों को फैलाने वाले इस देश के नवयुवकों की बहुत बड़ी हानि कर रहे हैं। मेरे विचार में वे लोग भ्रमपूर्ण विचार-धारा से उन में एक बहुत बड़ी बुराई उत्पन्न कर रहे हैं। भारत के नवयुवक, जिनके हाथों में देश के भाग्य का निर्माण है, इस झूठे देव से सावधान रहें और यथार्थ ईश्वर ने उन्हें जो कोष सौंप रखा है उसकी

रक्षा ठीक प्रकार से करते रहें। यदि वे चाहें तो उस सम्पत्ति का उपयोग सन्तानोत्पादन के लिये कर सकते हैं।

—हरिजन : मार्च २८, १९३६ ई०

मैं स्वीकार करता हूँ कि ईश्वर, जो कि सचाई का जीता-जागता स्वरूप है, उसमें सोलहों आने श्रद्धा रखे बिना संयम को क्रिया में लाना असम्भव है। आजकल जीवन-क्षेत्र से ईश्वर को सर्वथा पृथक कर देने की एक चाल सी हो गई है। इस बात पर बल दिया जाता है कि ईश्वर में सजीव श्रद्धा रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उसके बिना ही ऊँचे से ऊँचा जीवन बिताना सम्भव है। मैं मानता हूँ कि अपने से अत्यन्त प्रबल शक्ति के मानने की जो न तो आवश्यकता समझते हैं और न उसमें श्रद्धा ही रखते हैं, ऐसे लोगों को मैं ईश्वरीय नियम समझाने में असमर्थ हूँ। सारा संसार जिसके संकेत पर नाचता है उस ईश्वर पर दृढ़ श्रद्धा रखे बिना मेरे अनुभव ने तो मुझे सिखाया है कि पूर्ण जीवन बिताना असम्भव है। समुद्र से उछलकर बाहर गिरने वाली बूँद की जो दशा होती है—अर्थात् वह नष्ट हो जाती है—ईश्वर में विश्वास न रखने वाले मनुष्य की भी वही दशा होनी है। प्रत्येक बूँद समुद्र में रहते हुए उसकी महत्ता की भागीदार है और वह हमें भी अपने जीवन के लिए अमृत पिलाने वाली बनती है।

—हरिजन : अप्रेल २५, १९३६ ई०

आज कल हमारे समाज में ऐसी कोई बात नहीं रही जिससे हमें आत्म-संयम का पाठ मिले। हमारे लालन-पालन का ढंग भी उसके सर्वथा प्रतिकूल ही है। माँ-बाप ने तो अपना प्राथमिक कर्तव्य यही बना रखा है कि अपनी सन्तान का विवाह किसी भी प्रकार कर डालना। इसका नतीजा यह होता है कि वे शशकों की तरह बच्चे उत्पन्न करने लगते हैं। यदि उनके यहाँ कन्याएँ उत्पन्न हो जायं तो अपनी सहूलियत की दृष्टि रखकर वे उनका विवाह जितना शीघ्र हो कर डालते हैं। उनके नैतिक विकास की ओर ध्यान ही नहीं है। विवाहोत्सवों में भी क्या होता है? सहभोजों तथा अन्य अनावश्यक व्ययों की लंबी परम्परा। मनुष्य को अपना गृहस्थ जीवन भी बाल्यकाल की तरह ही व्यतीत करना पड़ता है। छुट्टियों और सामाजिक उत्सवों का ढर्रा भी इस प्रकार का है कि जिसमें भोगमय जीवन बिताने का ही प्रायः अवसर मिलता है। पढ़ने की पुस्तकें भी ऐसी हैं कि जिनमें काम-वासना को ही उत्तेजित्त करने की बातें हैं। आजकल का साहित्य भी काम-वासना को प्रोत्साहन देने वाला है और इससे पूर्ण निवृत्ति को बुरा बतलाता है।

फिर क्या आश्चर्य है कि कामवासना को जीतना यदि असम्भव नहीं है तो भी कठिन तो अवश्य ही बना हुआ है।

—हरिजन : मार्च २१, १९३६ ई०

भाग २

मेरा विश्वास

सरल यौवन एक अमूल्य सम्पत्ति है। उसे क्षणिक वासना पूर्ति के लिये, जिसे कि लोग भूल से सुख कह कर पुकारते हैं, नष्ट नहीं होने देना चाहिये।

—हरिजन : सितम्बर २१, १९३५ ई०

जल-वाष्प तभी एक बड़ी शक्ति बन सकती है, जब वह अपने आपको एक दृढ़ छोटे से पात्र में कैद रखना स्वीकार करती है। एक छोटी संकुचित नली के मार्ग से जाकर वह एक प्रबल वेग उत्पन्न कर देती है, जिससे एक बोझा ढोया जाता है। उसी प्रकार देश के नवयुवकों को अपनी अक्षय शक्ति को वश में रख कर उसका सदुपयोग करना चाहिये उन्हें अपनी उस महा-शक्ति को संयत रखने, वश में रखने और आवश्यकता के समय ठीक प्रकार व्यय करने में सावधान रहना चाहिये।

—यंग इण्डिया : अक्टोबर २, १९३९ ई०

नवयुवकों को निराशा के समक्ष कभी सिर नहीं झुकाना चाहिये। उन्हें स्वयं इस बात का दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि सच्चे गुण सम्मान प्राप्त किये बिना नहीं रह सकते।

—यंग इण्डिया : मई २८, १९१९ ई०

मनुष्य का लक्ष्य

मनुष्य से भूल हो जाती है। उसे अपने कार्य का पूरा भरोसा कभी नहीं रह सकता।

—यंग इण्डिया : सितम्बर २५, १९२४ ई०

————

परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना लेना ही सच्चा पुरुषत्व है। जो स्वयं अपना ध्यान नहीं रखेंगे वे नष्ट हो जायेंगे। इस सिद्धांत को समझने के लिये अधीर होने, भाग्य को कोसने, दूसरों को दोष देने की आवश्यकता नहीं है। जो आत्मावलम्ब के सिद्धान्त को मानता है, वह असफल होने पर अपने को ही दोषी ठहराता है।

जीवन का मुख्य उद्देश्य सत्याचरण, सत्य विचार और सत्य व्यवहार है। जब हम अपना सारा ध्यान शरीर पर ही लगा देते हैं तो हमारी आत्मा दुर्बल हो जाती है।

—हरिजन : फरवरी २७, १९३६ ई०

————

ईश्वर ने जितने भी पापी उत्पन्न किये हैं, उनमें मनुष्य ही एक ऐसा जीव है, जिसको उसने अपने सृष्टिकर्ता को पहचानने का सामर्थ्य दे रखा है। इसलिये उसे चाहिये कि वह दिन भर केवल धन संचय करने और सांसारिक देह के बढ़ाने में ही न जुटा रहे, परन्तु उसका मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि यह प्रतिदिन ईश्वर के निकटतर पहुँचता जाय।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर २०, १९२७ ई०

————

चाल चलन

अच्छे चालचलन का मनुष्य जिस स्थिति में भी रख दिया जायगा उसीको अपने अनुकूल बना लेगा।

—यंग इण्डिया : जून ६, १९२० ई०

———

यह तो मानी हुई बात है कि धन से विवेक दो कदम आगे ही रहता है। साथ ही साथ पत्र-व्यवहार करने वाले साहब को यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हृदय की दौड़ मन की तुलना में आगे ही रहेगी। सच्ची परीक्षा के समय मन की नहीं, चालचलन की पूछ होगी।

—यंग इण्डिया : सितम्बर १६, १९२१ ई०

———

सदाचार और मोक्ष हृदय की शुद्धता पर टिके हुए हैं।

सदा ही वाणी से अधिक उत्तम चालचलन का प्रभाव पड़ता है।

———

आप अपनी सारी जानकारी, पढ़ाई और विद्वत्ता को तुला के एक पलड़े में रख दीजिये और उसके दूसरे पलड़े में सचाई और पवित्रता को रख दीजिये। आप को पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक झुका हुआ प्रतीत होगा। आजकल विद्यालयों के पढ़ने वाले विद्यार्थियों में नैतिक पतन हो रहा है। छिपी हुई महामारी की तरह वह उन्हें बुरी तरह नष्ट कर रहा है। इसलिए लड़को व लड़कियो! मैं आप से आग्रह करता हूँ कि आप अपने मन और शरीर को पवित्र बनाये रखें। आप की सारी विद्वत्ता, सारी धार्मिक शिक्षा व्यर्थ सिद्ध होगी यदि आप अपने जीवन में उनमें बतलाई हुई शिक्षाओं को आचरण में नहीं लायेंगे। मुझे ज्ञात है कि कुछ अध्यापक भी ऐसे हैं जो अपना जीवन शुद्ध और पवित्र ढंग से नहीं बिता रहे हैं। उनको मेरी यह सम्मति

है कि चाहे वे अपने शिष्यों को संसार भर की पढ़ाई पढ़ा दें, किन्तु यदि उनमें सत्य और पवित्रता नहीं उत्पन्न करेंगे तो वे उन्हें पतन की ओर ही ले जाते हैं। उनके साथ धोखा करते हैं। उन्हें ऊपर उठाने के स्थान पर नीचे रसातल में ढकेलते हैं। बिना सदाचार के विद्या बुराई को बढ़ाने बनाने वाली है यह बात हम संसार के कई होशियार चोरों और शरीफ गुंडों के उदाहरण देकर सिद्ध कर सकते हैं।

—यंग इण्डिया : फर्वरी २१, १६२६ ई०

बूंद बूंद से घड़ा भर जाने वाली कहावत न केवल सांसारिक पदार्थों के संचय करने के लिये ही ठीक है, परन्तु वह नैतिक क्षेत्र के लिये भी लागू की जा सकती है। छोटे से छोटा कार्य भी क्यों न हो, उसे तत्परता के साथ कीजिये। उसके लिए उतनी ही चिन्ता और ध्यान रखिए जितना किसी बड़े भारी काम के लिये रखना आवश्यक है। क्योंकि इन छोटे छोटे कार्यों से ही आप की जांच होगी।

—हरिजन : जुलाई ७, १६३५ ई०

उस नैतिकता का समर्थन नहीं किया जा सकता जिसका आश्रय किसी भी पुरुष या स्त्री को विवशता (लाचारी) की स्थिति में करना पड़ता है। नैतिकता की जड़ तो हृदय की शुद्धता में है।

—हरिजन : जून ८, १६४० ई०

अनुशासन

अनुशासन किसी विशेष पद के लोगों के लिये ही नहीं है। एक अनुशासन को जानने वाला राजा अपने उस अधीन पुरुष के निर्णय को मानेगा जिसको उसने किसी विषय में निर्णायक नियत किया है।

—यंग इण्डिया : दिसम्बर ४, १६२५ ई०

त्याग, अनुशासन आत्म-संयम के बिना मुक्ति पाना और उसकी आशा रखना व्यर्थ है। बिना अनुशासन के त्याग का भी कुछ प्रभाव नहीं होगा।

—यंग इण्डिया : जनवरी ६, १९२६ ई०

———

एक सच्चा सैनिक पग बढ़ाता हुआ चला जाता है। वह इस बात के लिये विवाद करता है कि अन्तिम सफलता किस प्रकार प्राप्त होगी। उसको इस बात का विश्वास है कि यदि मैं अपना छोटा सा कार्य तत्परता के साथ करता रहूँगा तो किसी न किसी संग्राम में विजय अवश्य मिलेगी। हम सब को उसी भावना से कार्य करना चाहिये। हमें इस बात का ज्ञान नहीं हो सकता कि भविष्य में क्या होगा। परन्तु प्रत्येक मनुष्य इस बात को भली प्रकार जानता है कि मैं अपने कार्य को उत्तमता से कैसे करके दिखा सकता हूँ। इसलिये जिसे हम जानते हैं कि हम कर सकते हैं उसी को हमें मन लगा कर करना चाहिये।

———

हमें किसी भी बड़े और स्थिर पदार्थ को पाने के लिये सब से पहले कठोर और फौलादी अनुशासन पालने की आवश्यकता है। वह अनुशासन बुद्धि के विवादों और युक्तियों से प्राप्त नहीं हो सकता। अनुशासन की शिक्षा संकटों के विद्यालय में मिलती है।

———

हम अनुशासन दबाव के द्वारा नहीं सीख सकते हैं।

कहीं हमारे लिये यह बात न कही जाय कि हम लोग अनुशासन के पालन करने के योग्य नहीं है। अनुशासन का नहीं रखना विपत्ति को खड़ा करना है। उस दशा में, मुझ जैसा मनुष्य, जो कि अपने जीवन काल में ही स्वराज्य पाने के लिये आतुर है, शोक और दुःख में ही मर जायगा। —यंग इण्डिया : मार्च १२, १९३१ ई०

प्राकृतिक उत्पातों से बचने के लिये प्राकार और बाढ़ से बचने के लिये बाँध जिस प्रकार उपयोगी हैं ठीक उसी प्रकार अव्यवस्था से पीछा छुड़ाने के लिये अनुशासन की आवश्यकता है।

—यंग इण्डिया : मई १४, १६३१ ई०

उस संस्था पर भरोसा नहीं रखा जा सकता है जिसका अपने सदस्यों पर कोई प्रभुत्व न हो। उस सेना की कल्पना कीजिए, जिसके सैनिक इस झूठे विश्वास पर कि वे जनता के कष्ट मिटाने के लिये आगे बढ़ रहे हैं, सेनापति से प्राप्त निर्देश के विरुद्ध मनमानी कार्यवाही करते हों। इस प्रकार के कार्य अवश्य पराजय की ओर ले जायँगे।

—हरिजन : अक्टूबर २१

भविष्य में होने वाले युद्ध में, यदि वह अवश्य ही छिड़ जाय तो अधूरे मन की आस्था निरर्थक सिद्ध होगी। उस सेना के सेनापति के हृदय की कल्पना कीजिए, जो युद्ध में ऐसे सैनिकों को लेकर जा रहा है जिनके मन में विश्वास नहीं है और जो लड़ने के लिये उद्यत नहीं हैं। निःसन्देह वह पराजय के लिये ही पग बढ़ा रहा है। मैं इस प्रकार की घातक परीक्षा जान बूझ कर कभी नहीं करूँगा। यह बात काँग्रेसियों को डराने के लिये नहीं है। यदि उनमें साहस है, तो उन्हीं मेरे निर्देश के अनुसार कार्य करने में कठिनाई न होगी। पत्र व्यवहार करने वाले मुझे लिखते हैं कि यद्यपि हमें न तो आप में और न चर्खे में ही कोई श्रद्धा है, फिर भी हम अनुशासन बनाये रखने के लिये चरखा चलाते हैं। यह कथन मेरी समझ में नहीं आता है। क्या कोई सेनानायक उन सैनिकों की शक्ति पर लड़ सकता है, जो उसमें विश्वास नहीं रखते और इस बात का उसे यथार्थ ज्ञान भी है? इसका स्पष्ट अर्थ यही निकालता है कि पत्र लिखने वालों को सामूहिक कार्य पर विश्वास है;

किन्तु जो सम्बन्ध मैं इसमें और चरखे आदि में देखता हूँ उस पर उनका विश्वास नहीं है। यह संबन्ध अहिंसा के लिये ही मुझे योग्य जान पड़ता है। उन्हें यह विश्वास है कि जनता पर मेरा प्रभाव है; किन्तु उन्हें मेरी उन बातों पर विश्वास नहीं है जिनके कारण मैं जनता पर अपना प्रभाव डाल सका हूँ। वे मेरे द्वारा अपना कार्य तो सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु मेरी नासमझी और ढिठाई (उन लोगों की दृष्टि में) का मूल्य चुकाना नहीं चाहते। मैं इसे अनुशासन नहीं मानता हूँ। सच्चा अनुशासन उत्साह पूर्वक आज्ञा का पालन करवाता है। चाहे वह आज्ञा बुद्धि को न जंचने वाली ही क्यों न हो। अपने लिये सेनानी का चुनाव करने के पूर्व एक स्वयंसेवक (सेवक जो अपनी इच्छा से सेना में भरती हो) अपनी बुद्धि का उपयोग करता है; किन्तु एक बार चुनाव हो चुकने पर फिर वह अपना समय और अपनी शक्ति प्रत्येक आज्ञा का पालन करने की जगह उसे बुद्धि की कसौटी पर कसने और उसके तोल की जांच में नष्ट नहीं करता। तब उसे इस बात का विचार नहीं करना है कि 'क्यों?'

—हरिजन : मार्च ३, १६४० ई०

सिद्धान्त

कोई मुझे इस बात का दोष न लगाये कि मैंने कभी भी दुर्बलता को स्वीकार करने की किसी को सम्मति दी है या इस ओर किसी को उत्साहित किया है। मैंने कभी सिद्धान्त को तोड़ देने के लिये किसी को न तो सम्मति दी है और न उत्साह दिलाया है। किन्तु मैंने पहले भी कहा है और अब भी कहता हूँ कि प्रत्येक छोटी वस्तु को सिद्धान्त जैसा महत्त्व नहीं देना चाहिये।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर २२, १६३७ ई०

ठीक ठीक न समझे हुए सिद्धान्त नहीं पचने वाले भोजन के समान बन जाते हैं। परन्तु उससे भी बुरे हैं। क्योंकि ऐसा भोजन शरीर को ही कष्ट पहुंचाता है, किन्तु उसके लिये चिकित्सा है। किन्तु पूर्णतया न समझे हुए सिद्धान्त आत्मा को बिगाड़ते हैं, जिसकी कोई चिकित्सा ही नहीं। —यंग इण्डिया : मई १, १६३७ ई०

————

धैर्य

धीरता को छोड़ना संग्राम में पराजय पाने के समान है।

यदि धैर्य का कोई मूल्य है तो उसे अन्तिम समय तक निबाहना चाहिये। और सच्चा विश्वास भयंकर से भयंकर उत्पातों में भी बना रहता है। —यंग इण्डिया : दिसम्बर १४, १६२७ ई०

————

जितनी अधिक हमारी धीरता होगी कष्ट सहने का उतना ही उत्साह हममें उत्पन्न हो जायगा हमारा बल और अधिक बढ़ जायगा।

—यंग इण्डिया : जुलाई १६, १६३१ ई०

————

कर्तव्य-पालन से ही अधिकार प्राप्त होता है।

हम यदि अपना कर्त्तव्य पूर्ण करते जायँ, तो हमारे अधिकार हम से दूर नहीं रहेंगे। यदि हम अपने कर्त्तव्य को अधूरा छोड़ कर अधिकार के लिये ही दौड़ते रहेंगे तो वे घास के तिनके की तरह उड़ जायेंगे। जितने जितने हम उनके पीछे दौड़ेंगे उतने वे आगे आगे भागते जायेंगे। यही शिक्षा श्री कृष्ण जी ने इन अमर शब्दों में प्रकट की है—"तेरा अधिकार तो कार्य करने का ही है, तू उसके फल की ओर दृष्टि मत डाल।" कार्य ही कर्त्तव्य है; उसका परिणाम अधिकार है।

————

प्रत्येक कर्तव्य जो पूर्ण किया जा चुका है, मनुष्य को अधिकार दिलवाता है। साथ ही साथ प्रत्येक अधिकार जिसको प्राप्त किया जा चुका है, उसके साथ उतनी सीमा तक कर्तव्य भी सिर पर आ चुका है। इस प्रकार कर्तव्य पूर्ण करने और अधिकार पाने का चक्र निरन्तर चलता ही रहता है: कभी समाप्त होता ही नहीं है।

—यंग इण्डिया : अगस्त २२, १६२६ ई०

———

मनुष्य को अधिकार स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं, यदि वह अपना कर्त्तव्य सचाई से निवाहता रहे। सही बात तो यह है कि अपने कर्तव्य को पूर्ण करने का अधिकार ही एकमात्र अधिकार है जिसके लिये जीवित रहना चाहिये और इसीके लिए मर जाना चाहिये। उसमें सभी उचित अधिकार आ जाते हैं। अन्य सब किसी न किसी प्रकार की अनधिकार चेष्टा और उनमें हिंसा का बीज जमा हुआ है।

—यंग इण्डिया : २७. १६२० ई०

———

साधन और उद्‌देश्य

लोगों का कहना है कि साधन तो अन्त को साधन ही हैं। मैं तो कहूँगा कि साधन ही सब कुछ है। जैसे साधन होंगे वैसे ही उद्देश्यों पर पहुँचा जायगा। हिंसामय उपाय हिंसामय स्वराज्य ही दिलवायेंगे। वे संसार और भारत पर आतङ्क फैलायेंगे। साधनों और उद्देश्यों को पृथक् करने वाली कोई दीवार नहीं है। यद्यपि ईश्वर ने हमें साधनों पर अपना अधिकार रखने (वह भी किसी सीमा तक) का सामर्थ्य दिया है; किन्तु परिणाम पर नहीं। जितने अच्छे साधन होंगे उतनी ही सीमा तक उद्देश्य पर पहुँच पाओगे। यह एक प्रकृति का नियम है जिसके लिये कोई अपवाद नहीं है। —हरिजन : फरवरी २८, १६३७ ई०

मेरे लिये तो साधनों का जानना ही बहुत है। मेरे जीवन शास्त्र में साधन और फल एक ही अर्थ रखने वाले दो शब्द हैं।

—यंग इण्डिया : दिसम्बर २६, १९२४ ई०

—————

श्रद्धा

निःसन्देह किसी को अपने साधनों (तौर-तरीकों) पर जो श्रद्धा है उसकी सही सही जाँच उसी समय की जा सकती है जब उसके सामने संकट के काले बादल मंडरा रहे हों।

—यंग इण्डिया : अप्रेल ३, १९२४ ई०

—————

जिस मनुष्य में श्रद्धा और दृढ़ विचार हों उसके लिये निराशा का कोई कारण ही नहीं है।

—यंग इण्डिया : अगस्त १४, १९२४ ई०

—————

जो लोग दृढ़ता से खड़े रहने के लिये अनुकूल अवसर की खोज में हैं उनकी श्रद्धा दुर्बल होती है—वही श्रद्धा सच्ची है जो कठिन से कठिन समय पर भी विचलित नहीं होती।

—यंग इण्डिया : नवम्बर २०, १९२४ ई०

—————

अन्धा जोश और अन्धी श्रद्धा किसी स्थिर भलाई की ओर नहीं ले जा सकते।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर २२, १९२५ ई०

—————

श्रद्धा ही विक्षुब्ध समुद्रों से पार करवा सकती है, पहाड़ों को हिला सकती है और समुद्रों को लँघवा सकती है। वह श्रद्धा कोई अन्य वस्तु नहीं है—वह तो आपके अन्दर रहने वाली जीती-जागती ईश्वर की पहिचान ही है। जिसे वह श्रद्धा मिल चुकी है उसे किसी पदार्थ की कमी नहीं है।

—यंग इण्डिया : सितम्बर २४, १९१५ ई०

————

किसी मनुष्य को दूसरों में श्रद्धा उत्पन्न करने के पहले अपनी श्रद्धा को बुद्धियुक्त और उज्जवल बनाना आवश्यक है।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर २२, १९२५ ई०

————

जो श्रद्धा अनुकूल समय पर उत्पन्न होती है उसका कोई मूल्य नहीं। उसी श्रद्धा का मूल्य होगा जो बड़ी से बड़ी कठिनाइयों की जाँच में टिक सके। यदि आपकी श्रद्धा संसार भर के आक्षेपों के सम्मुख टिक नहीं सकती तो वह केवल एक लिपी-पुती कब्र की तरह ही निर्जीव है।

—यंग इण्डिया : अप्रेल २५, १९२९ ई०

————

श्रद्धा लेन-देन की वस्तु नहीं है। वह तो अपनी आत्मा में से उत्पन्न होती है।

—यंग इण्डिया : अप्रेल १७, १९३० ई०

————

डा० मोट्—आप को भारी से भारी आशा और सन्तोष कहाँ से प्राप्त हुए?

गाँधी जी—मेरी अपनी श्रद्धा से—जो कि ईश्वर में विश्वास रखने से उत्पन्न हुई है।

डा० मोट्ट—यदि कभी आप निराशा की स्थिति में रहें तब भी क्या आप उस ईश्वरीय श्रद्धा को बनाये रख सकते हैं ?

गाँधी जी—निःसन्देह ! इसीलिये तो मैंने सर्वदा अपने आपको एक अटल आशावादी प्रकट किया है।

—हरिजन : दिसम्बर २६, १९३६ ई०

हमारी कठिनाइयां जैसे जैसे बढ़ती जायँ वैसे ही वैसे हमारी श्रद्धा भी बढ़ती रहनी चाहिये।

—हरिजन : अप्रेल ६, १९४० ई०

श्रद्धा और बुद्धि की तुलना

बलवान कौन—श्रद्धा या बुद्धि ? कई प्रकार के प्रलोभन जहाँ विद्यमान हों वहाँ बुद्धि काम नहीं देती। शराबियों और प्रेमातुरों का पक्ष भी बुद्धिमान लोग करने लग जाते हैं। कारण उसका यह है कि ऐसे अवसरों पर उनकी बुद्धि डगमगा जाती है। वही फिर पाशविक बुद्धि बन जाती है। क्या परस्पर विरोधी पक्ष के वकील अपने अपने पक्ष के समर्थन के लिये बुद्धि को काम में नहीं लाते ? इतना होने पर भी यह तो मानना पड़ेगा कि उन में से एक या दोनों भूल पर अवश्य हैं। इसलिये श्रद्धा ही किसी की अच्छी नैतिक स्थिति को बुद्धि के आक्रमणों से बचाने के लिए दुर्ग का काम करती है।

प्रत्येक समय में एक समान ही रहने वाली विशुद्ध नैतिकता नामक कोई वस्तु है ही नहीं। किन्तु सापेक्ष नैतिकता अवश्य है। वह हम जैसे अपूर्ण मनुष्यों के लिये पर्याप्त है। इसलिए नशीली शराब को बिना औषध रूप के और औषधि की मात्रा में चिकित्सक की सम्मति

पर पीने के, केवल मजे के लिये ही पीना बहुत बुरी बात है। वैसे ही अपनी पत्नी को छोड़कर किसी भी अन्य स्त्री को कामातुर होकर देखना पाप है। ये दोनों व्यसन सामान्य बुद्धि से भी बुरे सिद्ध हो चुके हैं। विरोधी तर्क सदा उपस्थित किया जाता है। यहाँ तक की ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध भी युक्तियां दी जाती हैं। वह तो सारे ब्रह्माण्ड का स्वामी है। श्रद्धा, जो बुद्धि की पहुँच से बहुत ऊँची है हमारे लिए दृढ़ आधार है। मेरा बचाव श्रद्धा से ही हो रहा है और उसीने पहले भी बहुतों को गिरने से बचाया है। उसने मुझे कभी धोखा नहीं दिया। ऐसा भी नहीं सुना गया कि उसने कभी भी किसी को धोखा दिया है।

—हरिजन : दिसम्बर २३, १९३६ ई०

———

मुझे प्रतीत होता है कि आपमें और मुझमें कुछ अन्तर है। आप पश्चिम के लोग श्रद्धा को बुद्धि से बढ़ कर नहीं मान सकते। किन्तु मैं एक हिन्दुस्तानी यदि चाहूँ तो भी श्रद्धा को बुद्धि से छोटा नहीं मान सकता। आप सब के स्वामी ईश्वर को बुद्धि द्वारा लुभाना चाहते हैं, किन्तु मैं ऐसा नहीं कर सकता। जैसा कि गीता का कहना है—"ईश्वर पाँचवां या किसी को प्रत्यक्ष न होने वाला निर्णायक है और उसका निर्णय अटल और अन्तिम है।"

—हरिजन : अक्टूबर २३, १९३६ ई०

———

आशावाद

मैं एक दृढ़ आशावादी हूँ; किन्तु मैं सदा ही अपने आशावाद को ठोस आधार पर टिकाता हूँ।

—यंग इंडिया : अक्टूबर २३, १९२४ ई०

———

जब पूछा गया कि "क्या आप आशावादी हैं, और यदि हैं तो भविष्य के लिये निराशा क्यों हैं?" "यह तो आप जानते ही हैं कि लॉर्ड बर्कनहेड़ सर्वदा के लिये तो अपने पद पर रहने वाले हैं ही नहीं।" - उसके उत्तर में बोले—"मैं एक अटूट आशावादी हूँ क्योंकि मुझ को अपने पर विश्वास है। ये शब्द बड़े अभिमान पूर्ण और उद्दण्डता के प्रतीत होते हैं; क्या ऐसा नहीं है? किन्तु मैं उन्हें अपने अन्तरात्मा से कहता हूँ। मैं ईश्वर की अनन्त शक्ति पर भरोसा रखता हूँ। मैं सचाई पर पूर्ण विश्वास रखता हूँ; और इसीलिए अपने देश की और संसार की उन्नति अवश्य ही होगी इस बात का मुझे निश्चय है। लॉर्ड बर्कनहेड जो चाहें सो कहें। मैं ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखता हूँ। वह मनुष्य की बुद्धि को ठिकाने लाना जानता है। वह एक पहुँचा हुआ जादुगर है और मैंने अपने आप को उसके हाथों में सौंप रखा है। किन्तु वह एक कठोर काम लेने वाला स्वामी है। आप जितनी अच्छी काम करने की योग्यता रख सकते हैं, उससे कमसे वह कभी सन्तोष नहीं करेगा। मेरे लिये शासन के परिवर्तन का कोई महत्त्व नहीं है। मैं एक आशावादी हूँ क्योंकि मैं अपने आप से बहुत सी बातों की आशा रखता हूँ। मैं अभी तक उन्हें प्राप्त नहीं कर पाया हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि अभी तक मैं पूर्ण मनुष्य नहीं बन सका हूँ। यदि मैं एक पूर्ण मनुष्य बन गया होता तो मुझे आप से विवाद करने की आवश्यकता नहीं रहती। जब मैं पूर्ण मनुष्य बन जाऊँगा, मुझे केवल बोलने तक की देर रहेगी कि सारी की सारी जाति मेरे कथन को अपना लेगी। मैं सेवा द्वारा उस स्थिति तक पहुँचना चाहता हूं।

—यंग इण्डिया : अगस्त १३, १९२५ ई०

————

प्रतिज्ञायें

मैं इस बात का मानने वाला हूं कि मनुष्य तब तक अपनी एक जाति नहीं बना सकते और बड़े बड़े काम नहीं कर सकते, जब तक उनकी सचाई फौलाद की तरह दृढ़ नहीं है। और जब तक उनके वचन संसार के समस्त मीडोज और इरानियों के नियम की तरह अटल और अटूट नहीं हो जाते।

—एक भाषण से : मार्च २७, १९२८ ई०

प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य को अपना वचन अवश्य निबाहना चाहिए—ऐसा मेरा विश्वास है।

—यंग इण्डिया : मार्च २७, १९२८ ई०

इस देश के लोगों में आवेश में आकर प्रतिज्ञा कर बैठने की आदत सी पड़ चुकी है। उसका पालन कुछ दिनों तक तो होता है किन्तु आगे चलकर वे सदा के लिये समाप्त हो जाती हैं।

—यंग इण्डिया : जुलाई ७, १९२७ ई०

सब से पहले आप अपने आपको शुद्ध और पवित्र बनाइये और फिर अपने जीवन को भी संकट में डाल कर अपने वचन को निबाहना सीखिए। —यंग इण्डिया : नवम्बर १०, १९२७ ई०

वचनों का तोड़ना सचाई का बुरी तरह गला घोंटना है।

—यंग इण्डिया : मई १, १९३० ई०

वचन-भङ्ग मनुष्य का दिवालियापन उसी प्रकार प्रकट करता है। जिस प्रकार लिये हुये ऋण का न चुकाना।

—यंग इण्डिया : सितम्बर १६, १९३० ई०

जहाँ तक मुझे विदित है मैंने अपने सार्वजनिक या वैयक्तिक जीवन में कभी किसी वचन को नहीं तोड़ा है।

—हरिजन : अप्रैल २२, १९३९ ई०

शपथ

शपथ का लेना पूर्णतया एक धार्मिक कार्य है। वह आवेश में आकर लेने की वस्तु नहीं है। वह तो केवल पवित्र और स्थिर बुद्धि से ईश्वर को साक्षी रख कर ली जानी चाहिये।

वे कार्य जो सामान्य संयम से असम्भव हैं शपथ की सहायता से सम्भव हो जाते हैं। किन्तु उसके लिये असाधारण संयम अपेक्षित है। इसीलिये ऐसा विश्वास किया जाता है कि केवल शपथ ही हमें ऊँचा उठा सकती है।

निःसन्देह वहाँ तक किसी भी प्रकार की शपथ नहीं लेनी चाहिये जहाँ तक उसका निभाव नहीं हो सकता हो। शपथ लेने में जितनी भी सावधानी रखी जाय उतनी ही कम है। किन्तु हम इस बात को मानते हैं कि मनुष्यों के विशाल समाज को प्रतिज्ञाओं के बन्धन की शक्ति से बांधने की आवश्यकता है। उनके द्वारा मनुष्य का चाल-चलन सुधरता है। एक ओर जहाँ वे मनुष्य की प्रकृति की अस्थिरता का स्मरण दिलाती हैं वहाँ दूसरी ओर दृढ़ मन वालों को विशेष सहायता भी पहुँचाती हैं। संयत जीवन की प्रतिज्ञाओं से जो बहुत बढ़िया परिणाम होता है, उसे सभी स्वीकार करते हैं। ऐसी शपथों से बहुतों की नशे

बाजी छूट चुकी है। प्रतिज्ञा एक दृढ़ और पक्का निश्चय है जो किसी कार्य को पूर्ण करने के लिए किया जाता है। जब ऐसा निश्चय किसी भले काम से सम्बन्ध रखता है तो वह संकल्प करने वाले को ऊँचा उठा देता है। जो सम्बन्ध एक समकोण का दूसरे सभी कोणों से है वही सम्बन्ध शपथ का अन्य सभी प्रकार के अनिश्चित विचारों से है। जैसे एक समकोण सही और बिना भूल का नाप प्रकट करता है, वैसे ही एक प्रतिज्ञा-बद्ध मनुष्य, सही सही पग रखने पर अपना पूर्ण और सच्चा मान प्रकट करता है। —यंग इण्डिया : जून २८, १९१९ ई०

वही मनुष्य अपने बड़े बड़े वचनों को पूर्ण कर सकता है, जिसका ईश्वर में दृढ़ विश्वास है और जिसे ईश्वर का भय है।

—हरिजन : जुलाई १७, १९३८ ई०

मेरा धर्म मुझे यह सिखाता है कि किसी भले काम के लिये कोई भी प्रतिज्ञा एक बार की जाय या कोई भी संकल्प एक बार किया जाय तो उसे नहीं तोड़ना चाहिये।

—यंग इण्डिया : सितम्बर ६, १९२४ ई०

किसी आवेश में आकर संकल्प कर लेना बड़ी ही सरल बात है। किन्तु उसका निर्वाह करना—और विशेषतया कई प्रकार के प्रलोभनों के बीच में रह कर,—बड़ा ही कठिन है।

—यंग इण्डिया : जनवरी २२, १९२५ ई०

मेरी अपनी और कई दूसरे लोगों की भी यही सम्मति है कि हम में से दृढ़ से दृढ़ मनुष्य को भी प्रतिज्ञा और संकल्प करना आवश्यक

है। प्रतिज्ञा एक समकोण के समान है—लगभग नहीं, किन्तु पूरे ही ९०° अंश का। उसमें थोड़ा सा भी अन्तर पड़ा कि जिस बड़े कार्य के लिये वह समकोण बनाया गया है वह बिगड़ जाता है। स्वेच्छा से की हुई प्रतिज्ञा सरल रेखा के सदृश है जो एक मनुष्य को सीधा चलाती है और जब वह भूल करने लगता है तो उसे सावधान करती है। व्यक्तिगत प्रतिज्ञा जितना काम देती है उतना काम वे नियम जो सामान्य लोगों पर लगाये जाते हैं, नहीं देते। इसलिये सभी सुव्यवस्थित समाजों में हम घोषणा के उपाय काम में लेते हुए देखते हैं। व्हाइसरॉय (सम्राट के प्रतिनिधि) भी अपने पद के लिये शपथ लेते हैं। समस्त संसार में नियम बनाने वाली संस्थाओं के सदस्यों को भी ऐसा ही करना पड़ता है। मेरी सम्मति में भी यह बात ठीक भी है। एक योद्धा को भी किसी सैना में भरती होते समय ऐसा ही करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त एक लिखित प्रतिज्ञा उस शपथ लेने वाले मनुष्य को अपने वचन का स्मरण कराती रहती है। स्मृति एक अत्यन्त अस्थिर पदार्थ है। लिखी हुई बात सदा बनी रहती है। —यंग इण्डिया : अक्टूबर १, १९२५ ई०

व्रतों का प्रभाव

एक लेखक जो 'नव जीवन' को नियम और ध्यान से पढ़ने वाले प्रतीत होते हैं लिखते हैं—"मैं नियम पूर्वक कातता हूँ। किन्तु प्रश्न तो यह है कि मैं अपने आप को कातने के विषय में व्रत के बन्धन से बाँध लूँ या नहीं? यदि मैं एक घंटा प्रतिदिन कातने का व्रत ले लूँ तो मैं समझता हूँ कि मुझे एक घंटे तक सचाई से बिना किसी भूल-चूक के प्रतिदिन कातना ही पड़ेगा–चाहे कुछ भी हो जाय। मान लीजिए मैं ऐसा व्रत ले लेता हूँ और यदि मुझे किसी लम्बी यात्रा पर जाना पड़े तो फिर मैं अपने कातने के व्रत को कैसे पूर्ण कर सकूंगा? फिर तो मुझ पर लोगों

के सम्मुख और ईश्वर के समक्ष वचन-भङ्ग का पाप लगेगा। दूसरी ओर यह भी है कि यदि मैं शपथ या व्रत न लूँ तो इस बात का भरोसा भी कैसे हो कि मेरा वचन निभता ही रहेगा और कठोर परीक्षा के समय चूकूंगा नहीं ? कदाचित् आप यह कहेंगे कि सब को अपना वचन पक्का रखना चाहिये। जब कि देश के प्रसिद्ध नेताओं को हर घड़ी अपना वचन-भङ्ग करते हुए हम देखते हैं, तो फिर साधारण पुरुषों से हमें क्या आशा रखनी चाहिये ? मुझ जैसे निर्बल मनुष्य को क्या करना चाहिये ? क्या आप मेरी गुत्थी को सुलझाने की कृपा करेंगे ?

क्योंकि मैं बाल्यकाल से ही व्रत लेने का अभ्यासी हूँ, इसलिए मैं दृढ़ता से इस उपाय का समर्थन करता हूँ। इसने मुझे कई कठिनाइयों में बचाया है। मैंने कई लोगों को इसके द्वारा गिरने से बचते हुए देखा है। बिना व्रत का जीवन उस जहाज़ के समान है जिसको लंगर देने का अवसर ही नहीं है। वह उस स्तूप के समान है जो एक दृढ़ चट्टान पर बनाने के स्थान पर किसी रेतीली भूमि पर खड़ा किया गया है। व्रत से मनुष्य के आचरण में स्थिरता बल और दृढ़ता आती है। उस मनुष्य पर क्या भरोसा रखा जाय जिसमें ये आवश्यक उत्तम गुण न हों ? प्रतिज्ञा-पत्र कोई अन्य वस्तु नहीं है – वह तो केवल वचनों का ही परस्पर आदान-प्रदान है। जब एक मनुष्य किसी दूसरे को वचन देता है तो वे दोनों एक साथ ही किसी व्रत पर उतरते हैं।

प्राचीन काल में बड़े बड़े मनुष्यों के मौखिक शब्द ही एक पक्के प्रतिज्ञा-पत्र की तरह माने जाते थे। वे लाखों रुपयों का लेन-देन मौखिक वचनों पर ही कर डालते थे। सच तो यह है कि हमारा सारा सामाजिक संगठन वचनों की सचाई पर टिका हुआ है। यदि प्रतिज्ञा-पत्रों की स्थिरता का गुण नष्ट हो जाय तो समस्त संसार के टुकड़े टुकड़े हो जायेंगे। हिमालय पर्वत सदा के लिये अपने स्थान पर अचल खड़ा है। यदि हिमालय अपनी अचलता को छोड़ दे तो भारतवर्ष मिट जायगा।

सूर्य चन्द्र तथा अन्य नक्षत्र अपनी अपनी गति से अचूक चक्कर लगा रहे हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो मनुष्य के सभी काम रुक जाते। किन्तु हम जानते हैं कि बहुत प्राचीन काल से सूर्य प्रतिदिन ठीक समय पर निकलता है और भविष्य में भी उसी प्रकार निकलता रहेगा। शीतलता देने वाला चन्द्र मंडल भी सदा की तरह घटता—बढ़ता ही रहेगा, जैसा कि वह घड़ी की चाल के समान बहुत पुराने जमाने से नियमानुसार घटता-बढ़ता आ रहा है। इसी कारण हम कहते हैं कि चन्द्र और सूर्य हमारे कार्यों के साक्षी हैं। हम उन्हीं की चाल के सहारे अपनी जंत्रियों का निर्माण करते हैं। हम अपना समय उन्हीं के उदय और अस्तमन के आधार पर स्थिर करते हैं।

वे नियम जो इन आकाश के ग्रहों को नियम से चलाते हैं, मनुष्यों पर भी ठीक उसी प्रकार लागू हैं। एक मनुष्य जो व्रतों के बन्धनों से जकड़ा हुआ नहीं है, उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। ऐसा कहना मिथ्याभिमान होगा कि "मैं सदा के लिये व्रतों से अपने आपको क्यों बाँध रखूँ? वह तो मेरे पास स्वभावतः ही आते हैं। मैं तो कठिन परीक्षा के अवसर पर भी अपनी बचत अच्छी तरह कर लूँगा। मैं शराब नहीं पीने के लिये एक कठिन शपथ क्यों लूँ? मैं तो शराब पीता ही नहीं हूँ। कभी कभी शराब का एक प्याला अनायास ही यदि मुझे पीने को मिल जाया करे- तो फिर मैं उसके आनन्द को क्यों छोड़ दूँ।" एक मनुष्य जो ऐसा तर्क करता है कभी भी अपने व्यसन से छुटकारा नहीं पा सकता।

व्रत से बचना सन्देह को और दृढ़ता के अभाव को प्रकट करना है संसार में कोई भी मनुष्य अस्थिर होने पर किसी भी स्थिर पदार्थ को प्राप्त नहीं कर सकता। दृष्टान्त के लिये उस सेनानी या सैनिक को ही लीजिए जिसमें वचन निबाहने और दृढ़ निश्चय की कमी है और यह कहता है कि " मैं जहाँ तक मुझ से बन सकेगा, चौकसी रखूँगा " उस

पर कहाँ भरोसा रखा जायगा ? एक गृहस्थ जिसका चौकीदार यह कहता है कि ' मुझ से जहांतक हो सकेगा वहाँ तक मैं चौकी देता रहूँगा ' —सुख से नहीं सो सकता। किसी भी ऐसे सेनापति ने कभी विजय प्राप्त नहीं की जिसका यह नियम बना रहा कि ' उतनी ही देर तक सावधानी रखूँगा जितनी देर तक रह सकेगी।'

स्वेच्छा से कातने वालों के अनेक दृष्टान्त मेरे सम्मुख हैं। उनमें से सभी जल्दी या देर से शिथिल हो गये। दूसरी ओर जिन लोगों ने व्रत लेकर कातना आरम्भ किया, उनके जीवन की काया ही पलट गई। स्पष्ट है कि उन्हों ने कात कर सूत के ढेर के ढेर खड़े कर दिये। व्रत एक समकोण के समान है। किसी भी बड़े भवन की सुन्दरता और कुरूपता, दृढता और शिथिलता में एक छोटा सा समकोण ही अन्तर डाल देता है। इसी प्रकार किसी जीवन की स्थिरता और अस्थिरता पवित्रता अपवित्रता व्रतों पर ही निर्भर है।

यह तो स्वयंसिद्ध है कि संयम और गम्भीरता व्रत के मूल तत्व हैं। ऐसे व्रतों का लेना जो असम्भव हों या किसी के सामर्थ्य के परे हों, वे उस मनुष्य के मन की विचारहीनता और अस्थिरता प्रकट करते हैं। उसी प्रकार व्रत शर्त पर भी लिये जा सकते हैं जो न तो अपने प्रभाव और न अपने गुण को नष्ट करते हैं। हर रोज एक घंटे तक कातने और दो सौ गज सूत उत्पन्न करने की शपथ ली जा सकती है। साथ ही साथ यह शर्त उसमें रखी जा सकती है कि यात्रा में या रोग की दशा उसमें अपवाद रह सकते हैं। व्रत का यह रूप न केवल ठीक ही रहेगा, परन्तु पालन के लिये भी सरल रहेगा। किसी व्रत का महत्त्व उसके पालन के कष्ट में नहीं है; परन्तु उसके साथ लगे हुए संकल्प को अचलता से कठिन परिस्थितिओं में भी निबाहने में है।

व्रत लेने के नीतिशास्त्र की परीक्षा आत्म-संयम में है। दृष्टान्त के लिये, कोई भी मौज उड़ाने का—खाने, पीने और प्रसन्न रहने का

व्रत नहीं ले सकता। इस प्रकार रहना मनमाने ढंग पर रहना कहलाता है। यह सूचना आवश्यक है, क्यों कि मुझे ऐसे उदाहरण स्मरण हैं, जिनमें बहुत ही सन्देह पूर्ण कार्यों को व्रतों द्वारा पूर्ण करने का प्रयत्न किया गया। असहयोग के दिनों में किसी को ऐसी आपत्ति उठाते हुए किसी ने सुना भी है। मैं सरकारी नौकरी को कैसे छोड़ सकता हूं जब कि मैं उसके लिये प्रतिज्ञा-बद्ध हूं ?'' या यह भी कहते हुए सुनते है — "मैं अपनी शराब की दुकान को कैसे बन्द कर सकता हूं जब कि मैं निरन्तर पाँच वर्ष तक उसको चलाने के लिये ठेका ले चुका हूं ?'' कभी-कभी ऐसे प्रश्नों का उत्तर नहीं बनता। किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि शपथ किसी भी बुरे काम के लिये लेना उचित नहीं है। व्रत ऐसा हो जो मनुष्य को ऊँचा उठाता हो, न कि उसे विनाश की ओर ले जाने वाला हो।

लेखक ने अपने पत्र में देश के नेताओं पर कटाक्ष किया है और अपनी स्थिति को उचित ठहराने के लिये उन लोगों के मन की अस्थिरता की ओर निर्देश किया है। इस प्रकार का तर्क अपनी दुर्बलता को प्रकट करता है। किसी को भी अपने नेताओं के गुणों की तुलना और अनुकरण करना ठीक है। हम अपने राष्ट्रीय नेताओं को पूर्णता का अवतार नहीं मानते हैं। वे जो जनता के लिये कार्य करते हैं उन्हीं के कारण उन्हें बड़प्पन मिलता है। उनसे वहाँ जो अच्छे काम होते हैं, उन्हीं के कारण उनका मान होता है। हमें उनके उन गुणों की ओर ध्यान देना चाहिये और उनका अनुकरण करना चाहिये। उनकी बुराइयों की ओर हमें नहीं देखना चाहिये। कोई भी बालक अपने पिता की अच्छी सन्तान नहीं कहलायगा जो अपने माता पिता की बुरी आदतों को ही अपनाता है या उनसे बचे रहने के लिये विवशता प्रदर्शित करता है। अपने माता पिता की अच्छाइयों को, न कि बुराइयों को ग्रहण करना हमारा कर्त्तव्य है। जो सन्तान अपने माता पिता के ऋण को बढ़ाती ही

जायगी, उसको उत्तम सन्तान नहीं कहा जायगा। योग्य सन्तान उनके ऋण को चुका देगी और उनकी छोड़ी हुई सम्पत्ति को बढ़ायेगी।

—यंग इण्डिया : अगस्त २२, १९२९ ई०

निरर्थक जाप

प्रश्न—सभी मानते हैं कि मशीन की तरह अर्थ जाने बिना बार बार प्रार्थना करते रहना व्यर्थ है। वह आत्मा के ऊपर नींद लाने वाली औषधि का कार्य करेगी। मुझे प्रायः आश्चर्य होता है कि आप प्रतिदिन नियम से प्रातः सायं को उन ग्यारह प्रतिज्ञाओं को दुहराने को क्यों प्रोत्साहित करते हैं ? क्या इसका प्रभाव बालकों के नैतिक-बल को क्षीण करने वाला न होगा ? क्या ये व्रत अन्य अच्छी विधि से चालू नहीं रखे जा सकते ?

उत्तर—जाप यदि मशीनों की तरह नहीं किया जाय तो उसका आश्चर्यजनक चमत्कार जैसा प्रभाव होगा। इस प्रकार मैं माला को भी ढोंग नहीं मानता हूँ। वह इधर उधर भटकते फिरने वाले मन को शान्त करने में सहायता करती है। व्रतों का प्रतिदिन दुहराया जाना एक अन्य श्रेणी में आता है। उससे एक सच्चे साधक को उठते-बैठते सोते-जागते उन ग्यारह शपथों का स्मरण बना रहता है, जो उसके जीवन को नियम से चलाती हैं। निःसन्देह यदि उसका जाप केवल मशीन की तरह हुआ तो व्यर्थ होगा। केवल जाप से ही उसे लाभ होगा, यह बात उसे धोखा देगी। आप पूछ सकते हैं कि व्रतों को दुहराया ही क्यों जाय ? यह तो आप जानते हैं कि आपने उन्हें लिया है और ऐसी आशा की जाती है कि आप उन पर दृढ़ रहेंगे। इस युक्ति में कुछ बल है। किन्तु अनुभव से

प्रतीत हुआ है कि मन से दुहराया जाने पर कोई भी संकल्प दृढ़तर बनता है। दुर्बल मन और दुर्बल आत्मा को व्रत उसी प्रकार सहायता पहुँचातते हैं, जिस प्रकार निर्बल शरीर को पौष्टिक औषध। जिस प्रकार स्वस्थ शरीर को पुष्टिकारक औषधि की आवश्यकता नहीं है उसी प्रकार शपथों और उनके दैनिक स्मरण के बिना ही एक सशक्त मन वाला मनुष्य अपना स्वास्थ्य बनाये रख सकता है। फिर भी शपथों की जाँच करने पर यह प्रतीत होगा कि हममें अधिकांश लोग इतने निर्बल हैं कि उन्हें उनकी सहायता की आवश्यकता है।

—हरिजन : मई २७, १९३६ ई०

शपथ और इच्छा-शक्ति

प्रश्न—मैं ब्रह्मचर्य का एक सच्चा सधिक हूँ, किन्तु मैं प्रार्थना और प्रयत्न करने पर भी दिनों दिन मोह के कीचड़ में फंसता जा रहा हूँ। इसके लिये मैं अपने साथी को दोष नहीं लगा सकता हूं। मेरी परिस्थितियां मुझे पृथक् रहने के नियम का बलपूर्वक प्रयोग करने से रोकती है। आप व्रतों की उपयोगिता का प्रचार और समर्थन करते हैं। आपने 'हरिजन' में वर्णन किया है कि जिनका मन और जिनकी आत्मा निर्बल है उनके लिये व्रत शक्ति वर्धक औषध का काम करते हैं। किन्तु आप यह औषधि मुझ जैसे मनुष्य को किस प्रकार दे सकेंगे जिसमें व्रतों के निभाने की शक्ति नहीं है? यदि मुझमें ऐसी प्रबल आत्म-शक्ति होती तो फिर व्रतों के लेने की भी आवश्यकता नहीं होती।

उत्तर—मुझे आपको स्पष्ट कहने दीजिए कि मैं आपके विचारों की सचाई पर विश्वास नहीं करता। इसका यह अर्थ नहीं है कि

आप जान-बूझ कर झूठ बोल रहे हैं। आप अनजान में भूल पर हैं। यदि आप सही हैं तो आपको कम से कम खेल के नियमों का पालन तो करना ही चाहिये। आप अपनी इस युक्ति को छोड़ दीजिए कि मैं अपनी पत्नी से पृथक् इसलिये नहीं रह सकता हूं कमरे की कमी है। मैंने ऐसा बहाना कभी नहीं सुना है। यदि आप कोई व्रत लेते हैं तो आपको अपने चारों ओर उसके पालन के अनुकूल वातावरण बना लेना चाहिए। उससे उसके निवाहने में सहायता मिलेगी। प्रत्येक मनुष्य ने—जिसने सफलता से अपने व्रत को पूर्ण किया है,—सबसे पहले इसी प्रथम शर्त को पूर्ण किया है। यदि आपके पास एक ही कमरा है तो आप किसी अन्य स्थान पर चले जाइये या अपनी पत्नी को दूसरे स्थान पर भेज दीजिये या अपने किसी संबन्धी को भी अपने उस कमरे में सुलाइये। प्रश्न तो यह है कि आपका संकल्प कितना बलवान है? हो सकता है कि आप ब्रह्मचर्य को इस लिये पालन करना चाहते है कि आपने उसके विषय में बहुत कुछ पढ़ा है और आप अपनी गिनती ब्रह्मचारियों में करवाना चाहते हैं। मैं ऐसे बहुत से नवयुवकों को जानता हूं। यदि आपकी भी वैसी ही स्थिति है तो आपको परिश्रम नहीं करना चाहिये। वैसे जीवन के लिये तो धधकती हुई अग्नि की तरह उत्साह की आवश्यकता हैं। यदि आप में वैसा उत्साह है तो आपको उन सभी उपायों को ग्रहण करना पड़ेगा जिन्हें सभी साधकों को बिना अपवाद के अपनाना पड़ा है। तब आप अवश्य ही सफल होंगे।

—हरिजन : जून २९, १९४० ई०

———

प्रश्न--क्या अपनी भूल को जान लेना और आगे वैसी भूल नहीं की जायगी ऐसा दृढ़ संकल्प कर लेना कोई व्रत नहीं है? क्या उसके लिये आगे और तप करने की आवश्यकता है?

उत्तर—किसी भूल को समझ लेना और प्रायः इतनी दृढ़ता से समझ लेना कि आगे वैसी भूल फिर कभी नहीं होगी, एक काफी बड़ा तप है। जैसे साँप अपनी केंचुली निकाल कर फेंक देता है उसी प्रकार कोई भी मनुष्य अपनी बुरी आदत को निकाल कर फेंक दे तो वह भी पवित्र हो जाता है। इस तरह की आत्म-शुद्धि एक तप है। किन्तु जिसको भूलें करने की आदत पड़ चुकी है, वह उन्हें सरलता से नहीं छोड़ सकता। क्योंकि इस प्रकार का तप उसके माने हुए अर्थ में यदि विवेकपूर्वक किया जाय तो उससे एक भारी सहायता पाने की आशा की जा सकती है।

—हरिजन : सितम्बर १०, १९४० ई०

आत्म-विजय

सभी इन्द्रियों पर संयम किए बिना जननेन्द्रिय पर ही संयम करना असम्भव है। वे तो सब एक दूसरी पर आश्रित हैं।

—हरिजन : जून १३, १९३६ ई०

मनुष्य अपने बाह्य शत्रुओं से, जिनको उसने शत्रु मान रखा है, युद्ध करके वीर नहीं कहला सकता यदि वह अपने अन्दर के अनन्त शत्रुओं के विरुद्ध अंगुली नहीं उठा सकता। इससे बढ़कर बुराई क्या हो सकती है कि अपने अज्ञान से वह उन्हें मित्र माने बैठा है?

—हरिजन : अप्रेल ४, १९३६ ई०

हिमालय पर्वत पर चढ़ने का फल अधिक से अधिक यही होगा कि कुछ समय तक मन में प्रसन्नता और विजय का भाव उत्पन्न हो जायगा। किन्तु अपने पर विजय पाने का पारितोषिक आत्मिक आनन्द है, जो घटना तो जानता ही नहीं है, वह तो निरन्तर बढ़ता ही चला जाता है।

—हरिजन : मार्च २०, १९३७ ई०

लोगों का कहना है कि आत्म-संयम और निवृत्ति स्वाभाविक मार्ग नहीं हैं। उनका कहना है कि स्वच्छन्दता से कामवासना को पूर्ण करना और बिना रोक टोक प्रेम करन स्वाभाविक बातें हैं। इससे बढ़कर दूसरी कोई भ्रान्ति विनाशकारिणी नहीं कही जासकती।

—हरिजन : अप्रैल २४, १९३७ ई०

पुरुष और स्त्री दोनों को समझ लेना चाहिये कि कामवासना को संयम से जीतने पर कोई रोग उत्पन्न नहीं होता परन्तु स्वास्थ्य और शक्ति बढ़ती है। किन्तु शर्त यह है कि मन का सहयोग शरीर से होना निबान्त अनिवार्य है।

—यंग इण्डिया : सितम्बर २७, १९२६ ई०

सब से बढ़ कर ईश्वर पर विश्वास रखो

मनुष्य कुछ भी नहीं है। नेपोलियन ने बड़े बड़े मनोरथ बनाये थे किन्तु अन्त में उसे सेण्ट हेलेना में बन्दी होकर रहना पड़ा। कैसर महान् ने यूरोप का सम्राट् बनने की अभिलाषा की थी किन्तु वह आज एक सामान्य मनुष्य की तरह जीवन व्यतीत कर रहा है। ईश्वर को

ऐसा ही इष्ट था। हमें इन दृष्टान्तों पर विचार करना चाहिये और नम्र बनना चाहिये।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर ६, १९२४ ई०

ईश्वर अपने भक्त की बहुत ही कठोर परीक्षा करता है; किन्तु उसकी सहन शक्ति से बढ़ कर कभी नहीं। वह उसको सही जाँच में सफल होने के लिये पूर्ण सामर्थ्य देता है और जाँच भी ईश्वर ने उसके लिये नियत की है।

—यंग इण्डिया : फरवरी १९, १९२५ ई०

ईश्वर कभी कभी उस व्यक्ति की बहुत ही कठिन जाँच करता है, जिसे वह अन्त में कृतार्थ करना चाहता है।

—यंग इण्डिया : जून ११, १९३१ ई०

ईश्वर के हिसाब की पुस्तकों में केवल हमारे कार्य ही आँके जायगें, न कि जो हमने पढ़ा है और बोला है।

—यंग इण्डिया : जनवरी ७, १९२५ ई०

प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर में विश्वास है; चाहे वह इस बात को न समझता हो। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को अपने ऊपर भरोसा है और ईश्वर पर उस से छब्बीस गुना अधिक विश्वास है। संसार में जितने भी जीव हैं वे सभी ईश्वर-रूप हैं। चाहे हम ईश्वर न हों, परन्तु हम ईश्वर के अवश्य हैं; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक पानी की बूंद समुद्र का जल अवश्य ही है। उस बूंद के विषय में सोचिए जो समुद्र से उड़ कर लाखों मील की दूरी पर पहुँच गई है। वह विवश हो जाती है; अपने स्रोत से दूर पहुँच जाती है, और उसे समुद्र की अपार

महिमा का सर्वथा ज्ञान नहीं है। किन्तु यदि कोई उसे यह समझा दे कि हे बूंद! तू तो समुद्र का अंश है तो उसका विश्वास एक दम बढ़ जायगा, वह हर्ष से उछल पड़ेगी और उसमें सारे समुद्र के महत्व का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होगा। —हरिजन : जून ३, १६३६ ई०

ईश्वर एक कठोर काम लेने वाला स्वामी है। वह ऊपरी दिखावे के कार्य से कभी प्रसन्न नहीं होता है। उसके यन्त्र यद्यपि निश्चित रूप से और निरन्तर चक्कर लगाते हैं, फिर भी उनके कल-पुर्जे बहुत ही धीरे धीरे घिसते हैं और उसे किसी का जीवन शीघ्र समाप्त हो जाने पर कभी भी सन्तोष नहीं होता। उसे सर्वथा पवित्र मनुष्य के जीवन की बलि चाहिए और इसीलिये आपको और मुझे प्रार्थनामय जीवन व्यतीत करना है। हमें वहाँ तक जीवित रहना चाहिये जहाँ तक के लिये ईश्वर ने हमें जीवन दिया है।

—यंग इण्डिया : सितम्बर २२, १६२७ ई०

प्रार्थना हमारी असहायता की जानकारी का परिणाम है। वह अन्य सभी बातों को छोड़ कर ईश्वर पर अन्तिम विश्वास दिलाती है।

—यंग इण्डिया : नवम्बर २५, १६२६ ई०

चिन्ता हमारे शरीर को जितना नष्ट करती है उतना कोई दूसरी वस्तु नहीं। किन्तु कुछ भी हो, जो ईश्वर पर श्रद्धा रखता है उसे तो किसी भी बात के लिये चिन्ता करना लज्जाजनक है। यद्यपि यह एक कठिन नियम है, किन्तु उसका एक सामान्य कारण यह है कि अधिक मनुष्य ईश्वर पर जो श्रद्धा रखते हैं वह या तो मानसिक विश्वास है या अन्ध-विश्वास है या किसी एक ऐसी शक्ति पर विश्वास है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। भय से भरा हुआ विश्वास है। किन्तु

चिन्ता से पूर्ण मुक्ति पाने के लिये अटल श्रद्धा अनिवार्य है। वह एक ऐसा पौधा है जिसकी उपज बहुत ही धीमी है और जिसकी सिंचाई उन आँसुओं से की जानी चाहिये जो सच्ची प्रार्थना से बह निकलते हैं। वे एक प्रेमी की आँखों से निकले हुए आँसू हैं जो अपने प्रेम-पात्र के वियोग को क्षण भर भी सहन नहीं कर सकता; या उस भक्त के आँसू हैं जो यह जानता है कि मुझ में कुछ अपवित्रता शेष है। वही मुझे ईश्वर से दूर रख रही है।

—हरिजन : अक्टूबर १७, १९३७ ई०

मनुष्य की बुद्धि इतनी कुण्ठित है कि वह ईश्वर के दिये हुए संकेतों को—जो समय समय पर मिलते ही रहते हैं—समझ नहीं सकती है। हमें अपनी अचेतनावस्था की निद्रा से जगाने के लिये, हमारे कानों के पास डंका के बजने की आवश्यकता है। तभी हम उसकी सूचना को सुन सकेंगे। तभी हमें प्रतीत होगा कि जनता की सेवा में ही ईश्वर की यथार्थ सेवा होती है।

—यंग इण्डिया : अगस्त २५, १९२७ ई०

भाग ३

मेरे मन में स्त्री-जाति के लिए सम्मान

मैं नारी-जाति के लिए तिरस्कार के कोई भी शब्द नहीं कह सकता हूँ। मेरे मन में इस जाति के लिए बड़ा ही मान है और मैं उसकी बुराई का विचार नहीं कर सकता हूँ। वह ठीक वैसी ही है जैसी कि वह अंग्रेज़ी में बयान की गई है—"पुरुष का एक उत्तम अर्धाङ्ग।"

—हरिजन : फरवरी ४, १६३६ ई०

'स्त्री-जाति दुर्बल है' ऐसा कहना अपमान-जनक है। किस विषय में स्त्री-जाति अशक्त है? मेरी समझ में तो यह बात नहीं आती। यह बात तो तभी स्वीकार की जा सकती है जब कि हम यह मान लें कि स्त्रियों में पुरुषों की तुलना में पशुवृत्ति नहीं है या कम है। परन्तु स्त्री को भद्र जाति कहना फबता है। यदि वह मारकाट में निर्बल है तो कष्ट सहन करने में सशक्त है। मैंने स्त्रियों को त्याग और अहिंसा की जीती जागती मूर्तियाँ कहा है। उसे अपनी गुणों और मान की रक्षा के लिये पुरुषों पर आश्रित नहीं रहना चाहिये। मुझे एक भी दृष्टान्त याद नहीं आता जिसमें किसी पुरुष ने किसी स्त्री के गुणों की रक्षा की हो। यदि वह ऐसा चाहे तो भी नहीं कर सकता। सचमुच राम ने सीता के गुणों का और पाँचों पाण्डवों ने द्रौपदी के गुणों का बचाव नहीं किया। इन दोनों सतियों ने अपनी लाज अपनी पवित्रता की शक्ति से बचाई। कोई भी स्त्री अथवा पुरुष अपनी इच्छा के बिना अपनी मान मर्यादा नहीं गँवाता है। जितनी सीमा तक कि एक पुरुष, जिसको कि कोई दुराचारिणी स्त्री किसी औषधि द्वारा अचेतन बनाकर अपनी कामना

पूर्ण करती है, अपनी प्रतिष्ठा गँवाती है—उतनी ही सीमा तक एक स्त्री किसी दुराचारी द्वारा बेसुध की जाने और सताए जाने पर अपनी प्रतिष्ठा गँवाती है। —हरिजन : नवम्बर १४, १६३६ ई०

पुरुष ने स्त्री को अपना साधन बना रखा है। स्त्री ने भी उसका साधन मात्र बनना सीखा है, और अन्त में उसने इस प्रकार रहना सरल और सुखद मान लिया है; क्योंकि जब एक मनुष्य किसी को अपने चँगुल में फँसाता है तब फँसने वाले को उसमें गिरना भला और सरल प्रतीत होता है। —हरिजन : जनवरी २५, १६३६ ई०

मैं चाहता हूँ कि स्त्री में वही छिपी हुई शक्ति अच्छी बातों के लिये भी प्रकट हो जाय; यदि कोई ऐसी शक्ति उसमें बदमाशी के लिये रहती है। यह उसके हाथ की बात है कि वह संसार को अपने लिए और अपने सहचर के लिये अधिक सुखदायी बना दे। चाहे वह साथी उसका पिता हो, पुत्र हो या पति हो। यदि नारी अपने आपको अशक्त समझना और पुरुष के हाथ का खिलौना मानना छोड़ दे तो ऐसा कर सकती है। यदि संसार विभिन्न जातियों के पारस्परिक कलहों के पागलपन से और उससे भी बढ़कर नीति के नाम पर लड़ने के पागलपन से बचजाय तो फिर स्त्रियों को पुरुषों की भांति कार्य करने की आवश्यकता नहीं रहेगी, जैसा कि कुछ स्त्रियां करने के प्रयत्न में हैं। परन्तु तब तो वे स्त्री जाति के यथार्थ कर्तव्यों को मानवता पूर्ण करने में लग सकती हैं। वह मानवता का भला, पुरुषों से निरर्थक जीव नाश करने की स्पर्धा में उतर कर नहीं कर सकेगी। उसका तो यह कार्य है कि वह पुरुष को भूल करने से रोके; क्योंकि उसकी भूलों से जो विनाश होगा उसमें स्त्री का भी विनाश समा जायगा।

—हरिजन : नवम्बर १६, १६३६ ई०

स्त्रियाँ पुरुषों की सहचरी हैं, उनमें उनके समान ही मानसिक शक्तियाँ हैं। उन्हें पुरुष के छोटे से छोटे कार्य में भाग लेने का अधिकार है और उसके समान ही स्वाधीनता और स्वतन्त्रता का भी अधिकार है। —एक भाषण से: फरवरी २०, १९१८ ई०

मेरा विश्वास है कि स्त्री त्याग का अवतार है। किन्तु दुर्भाग्य से आज वह इस बात को अनुभव नहीं कर रही है कि पुरुष से उसमें कितना भारी उत्कर्ष है।

—'इण्डियाज केस फॉर स्वराज' पृ० ४०१ से

मैंने अपनी पत्नी को ही सारी स्त्री जाति का घेरा बनाया है। उसके जीवन से ही मैंने सारी स्त्री जाति का जीवन पढ़ लिया है। मैं दक्षिण अफ्रिका में अनेक यूरोप की महिलाओं के साथ रहा हूँ और प्रायः वहाँ रहने वाली सभी हिन्दुस्तानी महिलाओं को भी जानता हूँ। मैंने उनके साथ कार्य किया है। मैंने उन्हें यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि वे अपने माता पिता पतियों की दासियाँ नहीं हैं; न केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही, परन्तु घरेलू जीवन में भी। किन्तु कठिनाई यह थी कि वे अपने पतियों के समक्ष कुछ भी नहीं कह सकती थी, इसका उपाय तो स्त्रियों के ही हाथों में है। उनके लिये यह लड़ाई कठिन है और मैं उन्हें दोष नहीं देता। मैं पुरुषों को ही दोष देता हूँ। पुरुषों ने ही उनके विरुद्ध नियम बना रखे हैं। पुरुष ने स्त्री को अपना साधन बना रखा है। उसने भी पुरुष का साधन मात्र बनना सीखा है और अन्त में उसी जीवन को सरल और सुखमय पाया है; क्योंकि जब कोई किसीको अपने चंगुल में फंसाता है, तो गिरना सुगम होता है।......मेरा हृदय कहता है कि मैं अपने शेष जीवन में स्त्रियों के मन में यह सचाई बैठा दूं कि वे स्वतन्त्र हैं। फिर हमारे देश के सम्मुख सन्तति-निरोध का प्रश्न

ही नहीं रहेगा। जिस समय पति अपनी पत्नी के पास भोग की इच्छा से पहुँचे, उसी समय पत्नी को चाहिये कि वह बुद्धिमत्ता से उसे निषेध कर दे। उसे ऐसे अवसरों पर 'नहीं' कहने का सामर्थ्य उत्पन्न करने की आवश्यकता है। मैं नहीं समझता कि सभी पति विवेकहीन हैं; और यदि वे अपने पुरुषों के सामने इस विषय में विरोध-प्रदर्शन सीख जाये, तो सब बात ठीक हो जाय। मैं उन स्त्रियों को, जिन्हें मेरे साथ रहने का अवसर मिला है, यह बात अच्छी तरह सिखा चुका हूं कि अपने पतियों को किस तरह मना करना चाहिये। सच्ची बात तो यह है कि बहुत सी स्त्रियां रोकना ही नहीं चाहतीं।......सौ में निन्यानवे ऐसे स्थान होंगे जिनमें नकार की स्थिति में कटुता उत्पन्न नहीं होगी। यदि पत्नी अपने पति को कह दे कि "नहीं, मैं भोग नहीं चाहती" तो वह उसे दुःख नहीं देगा। किन्तु उसे यह नहीं सिखाया गया है। अधिकांश तो उसके माता पिता ही उसे यह बात नहीं सिखायेंगे। कुछ ऐसी घटनायें घटी हैं, जिन्हें मैं जानता हूं कि जिन में कुछ लड़कियों के माँ-बाप ने अपने जामाताओं को इस बात की अपील की है कि वे उनकी पुत्रियों को माता बनने के लिये विवश न करें। और मुझे विवेकी पतियों से मिलने का अवसर भी प्राप्त हुआ है। मैं चाहता हूं कि स्त्रियां निषेध करने के प्राथमिक अधिकार को सीख लें। वह भी यह माने हुए बैठी हैं कि उन्हें इस बात का अधिकार नहीं है।

—यंग इण्डिया : जून १४, १९२७ ई०

मैं अनुभव से जानता हूँ कि जब तक मैं अपनी पत्नी को भोग की इच्छा से देखता रहा; हम लोगों में ठीक समझौता नहीं रहा। हमारा प्रेम उच्च स्तर तक न पहुँचा। किन्तु हमारा परस्पर प्रेम दिनोंदिन तभी बढ़ता गया जब हम, या ऐसा कहिये, मैं सयमी बन गया। मेरी पत्नी में संयम की कमी नहीं थी। कई बार उन्होंने मुझे अनिच्छा प्रकट कर दी,

किन्तु उन्होंने निषेध नहीं किया। हाँ, उन्होंने कई बार मुझ से अनिच्छा प्रकट की। जब तक मुझ में भोग की इच्छा बनी रही, तब तक मैं उनकी सेवा नहीं कर सका। उस क्षण से ही, जब से कि मैंने भोग को तिलाञ्जलि दी, हमारा सबन्ध आध्यात्मिक (रुहानी) बन गया। भोग की इच्छा समाप्त हो गई और उसके स्थान पर विशुद्ध प्रेम का राज्य होगया।

—यंग इण्डिया : जनवरी २, १९३१ ई०

जहां तक स्त्रियों के अधिकारों का सबन्ध है मैं झुकने वाला नहीं हूँ। मेरी सम्मति में न्यायानुसार स्त्री किसी ऐसी बात के लिये अयोग्य नहीं जिसके लिए पुरुष को योग्य माना जाता है। मैं तो लड़के और लड़कियों के लिए सर्वथा एक समान ही स्थिति के बर्ताव का समर्थक हूँ।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर १७, १९२९ ई०

मैं हृदय से चाहता हूँ कि ईश्वर ने जिस सुन्दर जाति को उत्पन्न किया है उसको यदि पशुओं की तरह शारीरिक भोग को पूर्ण करने का साधन पुरुषों की ओर से बनाया जाता हो तो वैसी स्थिति में सारी पुरुष जाति का ही अन्त हो जाय तो ठीक होगा।

—यंग इण्डिया : जुलाई २१, १९२१ ई०

स्त्री का वास्तविक भूषण उसका सदाचार और सतीत्व है; धातु (सोना चांदी) और पत्थर (हीरा मोती) सच्चे भूषण नहीं कहे जा सकते हैं। सीता और दमयन्ती के नामों को हम लोग इसलिये पवित्र मानते हैं कि उनका आचरण शुद्ध और पवित्र था। इसलिए नहीं कि उनके पास बहुमूल्य भूषण थे; यदि उन्होंने कभी भूषण पहने भी हों।

—यंग इण्डिया : जून १२, १९३४ ई०

इस देश में लगभग सौ में अस्सी मनुष्यों को पेट भर कर भोजन नहीं मिलता है और पौष्टिक आहार नहीं प्राप्त होता। वहां पर आभूषणों का पहिनना आँखों के लिये एक अपराध है।

—हरिजन : दिसम्बर २२, १९३३ ई०

अगर तुम संसार के कार्यों में अपना कर्तव्य निबाहना चाहते हो तो मनुष्य को प्रसन्न करने के लिये अपना शृङ्गार करना छोड़ दो। यदि मैं स्त्री जाति में उत्पन्न होता तो मैं पुरुषों के इस झूठे दावे का घोर विरोध करता कि स्त्रियां तो आदमियों की कठपुतलियाँ हैं।"

—यंग इण्डिया : अक्टूबर २०, १९२७ ई०

मैं तो इस बात को नहीं मानता कि स्त्री भी उतनी ही सीमा तक भोग की इच्छा रखती है, जितनी पुरुष। पुरुष की अपेक्षा स्त्री के लिये संयम का पालन करना अधिक सरल है। मैं तो समझता हूँ कि इस देश के लिये सच्ची शिक्षा तो यही होगी कि स्त्री को 'नहीं' कहने का पाठ सिखाया जाय—यहाँ तक कि वह—अपने पति को भी नकार कर सके, उसे यह सिखाया जाय कि उसका यह कर्तव्य नहीं है कि वह अपने पति के हाथों का खिलौना या गुडिया ही बनी रहे। उसके अधिकार और साथ ही साथ कुछ कर्तव्य भी हैं। जो सीता को राम की एक स्वेच्छा पूर्वक दासी देखते हैं, वे इस बात को नहीं देखते हैं कि उसकी स्वाधीनता का क्षेत्र कितना बड़ा है और राम उसके लिये प्रत्येक बात में कितना ध्यान रखते हैं। सीता एक असहाय और बलहीन स्त्री नहीं थी। वह अपने आप का या अपने मान का बचाव करने के योग्य थी। हिन्दुस्थान की स्त्रियों को सन्तानोत्पति रोकने के उपायों को क्रिया में लाने को कहना, ठीक वही स्थिति उत्पन्न करेगा जो किसी घोड़े को बैल गाडी में जोतने से होता है। पहली बात तो यह है कि उसे मानसिक

दासता से मुक्त कर दो, अपने शरीर की पवित्रता का भान करवा दो, उसे जाति-सेवा का महत्व समझा दो और मनुष्य जाति की सेवा करना सिखा दो। यह सोचना ठीक नहीं है कि भारत की महिलाएं स्वतन्त्रता के योग्य नहीं हैं और इसलिये उन्हें ऐसे उपाय काम में लेना सिखलाये जायँ जो कि सन्तान-वृद्धि को रोक सकें। इन साधनों से उत्पत्ति का रोकना और स्त्रियों के स्वास्थ्य को सम्हाल रखना ऊँची बात नहीं है।

जिन बहिनों को उन स्त्रियों के कष्टों पर क्रोध आ रहा हो, जिन्हें बिना इच्छा के बच्चे उत्पन्न करने पड़ रहे हैं, वे अधीर न बनें। जो शिक्षा कृत्रिम उपायों से सन्तानोत्पत्ति रोकने की दी जा रही है वह भी अन्त में असफल ही होगी। प्रत्येक उपाय के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। मेरा आग्रह सही ढंग के लिये है।

—हरिजन : मई २, १६३६ ई०

स्त्री अहिंसा का अवतार है। अहिंसा का अर्थ है असीम प्रेम। जिसका फिर अर्थ होता है कष्ट को सहन करने की क्षमता। बिना स्त्री-जाति के जो मनुष्य की माता है, और कौन सब से अधिक प्रमाण में यह क्षमता दिखा सकता है? वही दिखाती है। जब बच्चा उसके गर्भ में रहता है वह नौ महीने तक गर्भ के बालक को बड़े कष्टों से खुराक पहुँचाती है। फिर भी उस कष्ट सहन में वह प्रसन्न ही रहती है। क्या बच्चे उत्पन्न करने के दुःख से बढ़ कर अन्य कोई कष्ट हो सकता है? फिर भी बच्चा उत्पन्न होने की प्रसन्नता में वह सब कष्ट भूल जाती है। आगे भी जब उसका बच्चा प्रति दिन बढ़ता जाता है तब भी कौन कष्ट को सहन करता है? उसके उस प्रेम को सारी मनुष्य जाति के प्रेम में बदल दीजिए। उसे इस बात को भूल जाने दो कि वह कभी मनुष्य के भोग की वस्तु थी या हो सकती है। यह तो मनुष्य के समीप उसकी माँ की तरह, निर्माता की तरह और एक शान्त नेता की भान्ति

ऊँचे मान का स्थान प्राप्त कर लेगी। यह उसी का कार्य है कि युद्ध पर उतरे हुए जगत् को जिस अमृत की प्यास लगी रहती है—अर्थात् शान्ति की, उसको पाने की कला सिखलाये। वह सत्याग्रह में एक नेत्री बन सकती है जिसमें पुस्तकों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ तो उस ज्ञान की आवश्यकता रहती है जो मन को सशक्त बनाये, कष्ट को झेलने की शक्ति दे और विश्वास उत्पन्न कर सके।

पूना के सेसून अस्पताल में जब कि मैं कई वर्ष पहिले बीमार पड़ा हुआ था मुझे मेरी एक दाई ने एक स्त्री के विषय में एक कथा सुनाई थी। उसने बेहोश होने की दवा को सूंघने से इसलिये इन्कार किया था कि वह अपने गर्भ के बच्चे के जीवन को सशय में नहीं डालना चाहती थी। उसे एक दुःखपूर्ण ऑपरेशन का सामना करना था। उसके लिये बेहोशी की दवा उसके बच्चे का प्रेम ही था। उसको बचाने में उसने किसी भी दर्द को भारी नहीं समझा। स्त्रियों में ऐसी वीर हृदय वाली अनेक हैं। इसलिये उन्हें कभी अपनी जाति के लिये छोटे पन का भाव मन में नहीं लाना चाहिये और न उन्हें इस बात का दुःख होना चाहिये कि उन्होंने पुरुष का जन्म नहीं पाया। उस वीर स्त्री की ओर जब कभी मेरा ध्यान जाता है तो मुझे उसके बड़प्पन पर, जिसका कि शायद उसे पता भी न होगा स्पर्धा होती है। पुरुष को नारी का जन्म पाने की चाह के लिये उतने ही प्रबल कारण हैं, जितने कि किसी स्त्री को पुरुष का जन्म पाने के लिये। किन्तु ऐसी इच्छा व्यर्थ है। हम जिस जन्म में उत्पन्न हुए हैं उसीमें हमें प्रसन्न रहना चाहिये और अपने कर्तव्य को सचाई से पूर्ण करना चाहिये। उसी कर्तव्य को पूर्ण करना चाहिये जिसके लिये प्रकृति ने हमें उत्पन्न किया है।

—हरिजनः फरवरी २४, १६४० ई०

———

हिन्दू और मुसलमान दोनों में स्त्रियों की स्थिति के प्रश्न को सुलझाना आवश्यक है। क्या वे अपने पतियों के साथ साथ संसार के पुनर्निर्माण में हाथ बँटा सकती हैं या नहीं? उन्हें भी स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। अब वे समाज के बाहर और सामाजिक शरीर में पक्षाघात की स्थिति में या गुड़ियों और गुलामों की भांति नहीं रखी जा सकती। और इस विषय में भी मैं किसी सुधारक को दावे के साथ यह सम्मति दूंगा कि स्त्रियों की स्वतन्त्रता का मार्ग शिक्षा द्वारा नहीं, किन्तु मनुष्यों की मनोवृत्ति और उसके अनुसार उनके व्यवहार में परिवर्तन से होना चाहिए। विद्या आवश्यक वस्तु है किन्तु उसके पहले स्वतन्त्रता चाहिये। स्त्रियों को उनका ठीक स्थान दिलवाने के लिये हमें उनके पुस्तक ज्ञान युक्त होने की राह देखने की बिलकुल आवश्यकता नहीं है। बिना पुस्तक-ज्ञान के ही हमारे देश की स्त्रियां इतनी सुधरी हुई हैं जितनी कि संसार में कहीं पर हो सकती हैं। उन्हें स्वतन्त्रता दिलाने का कार्य तो अधिकतर पतियों का ही है।

—एक भाषण से: जुलाई १७, १९१७ ई०

लोग मुझे कहते हैं कि हमारी शिक्षा की पुस्तकों में स्त्रियों का जो वर्णन किया गया है वह बहुत बढ़ा-चढ़ा कर देवताओं के आदर्श जैसा बना दिया है। मैं कहूँगा कि इस तरह कहना अनुचित है। मैं एक सामान्य सी बात आपके सम्मुख रखता हूँ। जब आप उनके विषय में लिखने लगते हैं तो आप उन्हें किस दृष्टि से देखते हैं? मैं आपको सम्मति देता हूं कि जब आप उनके विषय में लिखने के लिये लेखनी उठायें तो उन्हें अपनी माताओं की तरह मान कर उनका वर्णन करें। फिर जैसे आकाश से प्यासी भूमि की प्यास बुझाने वाला मेह बरसता है और प्रसन्नता पैदा होती है उसी तरह मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ आपकी लेखनी से पवित्र विचार उनके विषय में विस्तार से निकलते

आयंगे। कोई भी स्त्री, याद रखिये आपकी पत्नी बनने के पूर्व माता के समान थी। उनकी आत्मिक प्यास तो बुझाना दूर रहा कुछ लेखक तो उनकी वासना को इतना उभारते हैं कि बेचारी अनजान स्त्रियां अपना समय इस बात को सोचने में ही नष्ट कर देती हैं कि इन किस्सों में उनके विषय में जो वर्णन किया गया है उसका क्या उत्तर हो सकता है। क्या उसके शरीर का पूरा पूरा वर्णन करना साहित्यिकों के लिये एक आवश्यक विषय है? मुझे आश्चर्य होता है। क्या आपको ऐसी बातें उपनिषद कुरान या बाइबल में मिलेगीं। और फिर भी आपको क्या इस बात का ज्ञान है कि यदि अंगरेज़ी साहित्य से बाइबल को पृथक् कर दिया जाय तो उसका साहित्य सूना हो जायगा। अंगरेज़ी साहित्य में तीन भाग बाइबल और एक भाग शेक्सपीयर है। यदि कुरान को छोड़ दिया जाय तो लोक अरबी भाषा को ही भूल जायंगे। यदि तुलसीदास की रचनाओं को हम हटा दं तो फिर हिन्दी साहित्य में रहता ही क्या है। क्या आप तुलसीदास की रचनाओं में उस प्रकार के वर्णन को देखते हैं जो आजकल की पुस्तकों में स्त्रियों के विषय में मिलता है? —हरिजन : नवम्बर २१, १९३६ ई०

यदि आप भारत में स्वराज्य स्थापित करना चाहती हैं। जो कि मेरे और आपके विचार में राम-राज्य के सामान होगा चाहिये तो आप को शरीर से और मन से सीता की तरह पवित्र बनना चाहिये। तभी आप वीरों की माताएं बन पायंगी। शारीरिक पवित्रता को पाने के लिये पवित्र और हाथ का कता हुआ खादी का कपड़ा पहनना चाहिये। सीता भी प्राचीन काल में ऐसा ही करती थी। आपको अपनी और अपनी बेटियों की उन दासता की शृङ्खलाओं को तोड़ना है जो कई प्रकार की सामाजिक बुराइयों और अत्याचारों को वर्तमान युग में भी जकड़ कर बांधे हुए हैं। —यंग इण्डिया : फरवरी २१, १९२९ इ०

हमारे शास्त्रों का कहना है कि ईश्वर एक पवित्र स्त्री के रूप में अवतार लेता है जिसे हम सती कहते हैं। आप को न्यायानुसार अपने घरों में रानियों की स्थिति पानी चाहिये। किन्तु यह तभी सम्भव है जब आप अपने पुरुषों को शराब पीने के व्यसन से बचा लेंगी।

—यंग इण्डिया : फरवरी २८, १९२९ ई०

स्त्री यदि त्याग और पवित्रता का अवतार नहीं है तो फिर वह कुछ नहीं है।

—यंग इण्डिया : नवम्बर १९, १९२५ ई०

घरेलू कार्यों में स्त्री पूर्णतया अधिकार सम्पन्न है।

—यंग इण्डिया : दिसम्बर २४, १९२८ ई०

भाग ४

ब्रह्मचर्य

इस विषय पर लिखना सुगम कार्य नहीं है। किन्तु मेरा वयक्तिक अनुभव पर्याप्त व्यापक होने से, मैं सदा उसके कुछ परिणाम को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने की इच्छा रखता हूँ। कुछ पत्र जो मुझे मिले हैं उनसे मेरी यह अभिलाषा और भी प्रबल हो गई है।

एक लेखक पूछते हैं "ब्रह्मचर्य क्या है? क्या उसे पूर्णतया निबाहना सम्भव है? यदि है तो क्या आपने उस स्थिति को पा लिया है?"

ब्रह्मचर्य का शाब्दिक और पूर्ण अर्थ है ब्रह्म की खोज करना। क्यों कि ब्रह्म हम सब में विद्यमान है इसलिये उसे अपने अन्दर ही गहरे सोच-विचार और सही सही जाँच के द्वारा ढूँढना चाहिये। सभी इन्द्रियों पर पूरा पूरा संयम किये बिना ब्रह्म-दर्शन असम्भव है। इस लिये ब्रह्मचर्य सभी समय और सभी स्थान पर मन, वचन और कर्म से समस्त इन्द्रियों पर संयम रखने से सम्पन्न होता है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालने वाले चाहे पुरुष हों चाहे स्त्रियां, वे सर्वथा निष्पाप होते हैं। इसलिये वे ईश्वर के समीप हैं। वे ईश्वर के समान हैं। मुझे तो भरोसा है कि इस तरह के पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव है। मुझे दुःख पूर्वक कहना पड़ता है कि मैंने अभी तक उसमें पूरी सफलता प्राप्त नहीं की है। यद्यपि उस ओर मैं सदा प्रयत्नशील हूं और इसी जीवन में मैं उसे पा लेने की आशा में हूं। जाग्रत् अवस्था में मैं अपने पर संयम का पूर्ण ध्यान रखता हूं। मैंने अपने शरीर पर संयम कर लिया है। मैं प्रायः वाणी पर भी संयम

किये हुए हूँ। किन्तु जब मन पर विजय करने का प्रश्न उठता है तो कहना पड़ेगा कि मुझे अभी उसके लिये और प्रयत्न करना शेष है जब मैं किसी विशेष विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहता हूँ तो कई प्रकार के अन्य विचार आ घेरते हैं और गड़-बड़ पैदा करने लगते हैं और इस प्रकार उन में संघर्ष हो जाता है। फिर भी जागते हुए मैं उन्हें सम्हाल लेता हूँ। भिड़ने नहीं देता हूँ। इतना मेरे लिये कहा जा सकता है कि मैं उस स्थिति को पा चुका हूँ जिसमें मैं नीच विचारों से मुक्ति पा चुका हूँ किन्तु उसी सीमा तक मैं अपने विचारों पर निद्रा के समय अधिकार नहीं कर पाया हूँ। नींद आजाने पर सभी प्रकार के विचार चक्कर काटने लगते हैं। जिनकी आशा नहीं की जाती वैसे स्वप्न दीखने लगते हैं। कभी कभी मुझे उन विषयों की चाह भी होती है जिन्हें मैं पहले भोग चुका हूँ। जब ये इच्छाएं अपवित्र होती हैं तो मुझे बुरे स्वप्न आते हैं। इसी स्थिति का अर्थ अपवित्र जीवन है।

मेरे पाप के विचार झुलसे हुए हैं, परन्तु अभी तक मरे हुए नहीं। यदि मैं अपने विचारों पर पूर्ण संयम किए हुए होता तो मुझे फेफड़ों की, अंतड़ियों की और पेट की बीमारियां न होतीं, जिन्होंने कि मुझे पिछले दस वर्षों में सताया है।

मुझे विश्वास है कि जो आत्मा पापहीन है, वह भी स्वस्थ शरीर में ही रहेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा जैसे जैसे पापों से छुटकारा पाती जाती है वैसे वैसे उसका शरीर भी नीरोग होता है। इस दशा में स्वस्थ शरीर का अर्थ बलवान और मोटे शरीर से नहीं है। एक बलवान आत्मा दुर्बल शरीर में रह सकती है। आत्मा जैसे जैसे सबल होती जाती है शरीर क्षीण होता जाता है। एक सर्वथा नीरोग शरीर दुबला पतला हो सकता है। प्रायः पहलवानी

शरीर में रोग रहा करते हैं। यदि उसमें रोग न भी रहे तो भी उसे छूत से फैलने वाले रोग शीघ्र दबा लेते हैं। जब कि सर्वथा स्वस्थ शरीर ऐसे रोगों से पूर्णतया बचा रहता है। शुद्ध रुधिर में रोग के कीटाणुओं को मार भगाने की शक्ति है।

इस आश्चर्यजनक स्थिति को पाना सचमुच बहुत कठिन है। अन्यथा मैं उसे अभी तक पा लेता, क्योंकि मैंने उस स्थिति को पाने के लिये प्रयत्न करने में कोई बात उठा नहीं रखी है। मुझे अपने उद्देश तक पहुँचने में कोई भी बाह्य बाधा ऐसी नहीं है जो रोक सके। किन्तु यह सुगम बात नहीं है कि हम अपने पहले के किये हुए कार्यों के प्रभाव को एक दम ही मिटा दें। इस प्रकार विलम्ब होने पर भी मैं किसी प्रकार निराश नहीं होता हूँ, क्योंकि मैं पाप से सर्वथा बचे रहने की स्थिति की कल्पना कर सकता हूँ; मैं उसकी एक अस्पष्ट सी झिलमिलाहट भी देख सकता हूँ और मैंने जो उन्नति इस ओर की है वह मुझे आशामय बनाती है; निराशा के लिये कोई स्थान नहीं। यदि मैं अपनी अभिलाषा की पूर्ति करने के पहले ही मर जाऊँ तो भी मैं इस बात को स्वीकार नहीं करूँगा कि मैं हार गया। क्योंकि मैं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में उतना ही विश्वास रखता हूँ जितना कि वर्तमान जन्म में। और इसलिये मैं जानता हूँ कि एक छोटे से छोटा कार्य भी व्यर्थ नहीं जायगा। मैंने अपने जीवन के अनुभवों का इसलिये वर्णन किया है कि यदि लेखक और अन्य लोग उसी दशा में अपने आप को पायँ तो उनका उत्साह बना रहे और वे अपने आप पर भरोसा करने की आदत को बढ़ायँ। हम सब में एक समान आत्मा का वास है। सभी आत्माओं में समान शक्ति है। अन्तर केवल इतना है कि कुछ लोगों ने अपनी शक्ति बढ़ा रखी है और कुछ की शक्ति प्रसुप्तावस्था में है। दूसरे लोग भी यदि प्रयत्न करें तो उन्हें भी अपनी शक्ति का पूर्ण अनुभव हो जायगा।

इस प्रकार मैं ब्रह्मचर्य का व्यापक रूप आपके समक्ष रख चुका हूँ। किन्तु इसका लोकप्रसिद्ध और सामान्य अर्थ यह है कि मन, वचन और कर्म से पाशविक प्रवृत्तियों को दबाए रखना। यह अर्थ भी ठीक है, क्योंकि भोग-वासना को वश में रखना सामान्य बात नहीं है। जिह्वा को वश में रखने का प्रयत्न अत्यावश्यक है; जो नहीं किया जा रहा है। इसीलिये कामवासना को दबाना कठिन ही नहीं, असम्भवसा बना हुआ है। डाक्टरों की सम्मति है कि एक रुग्ण शरीर में काम वासना अधिक बढ़ी हुई रहती है; और इसीलिये दुर्बल व्यक्तियों का ब्रह्मचर्य को पालन करना कठिन होता है।

ऊपर मैंने एक क्षीण किन्तु नीरोग शरीर का वर्णन किया है। इसलिये कोई इसका यह अर्थ न लगाये कि हमें अपनी शारीरिक शक्ति को बढ़ाने के लिये व्यायाम आदि नहीं करना चाहिये। मैंने अपनी टूटी-फूटी भाषा में ब्रह्मचर्य का सब से ऊंचा स्वरूप प्रकट किया है जिस के समझने में भूल हो सकती है यदि कोई मनुष्य सभी इन्द्रियों को वश में करना चाहता है तो उसे अपने शरीर को क्षीण होने देने के लिये भी उद्यत रहना चाहिये। जब शरीर के लिये मोह रहेगा ही नहीं तो शारीरिक शक्ति को बढ़ाने की चाह अपने आप लुप्त हो जायगी।

किन्तु एक ब्रह्मचारी का शरीर, जिसने कि पाशविक वासना को जीत लिया है, बहुत ही बलवान और तेजस्वी होना चाहिये। यह एकदेशी ब्रह्मचर्य भी आश्चर्यजनक वस्तु है। जिसे स्वप्न में भी कामवासना नहीं सताती है वह संसार में पूजे जाने के योग्य है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्य इन्द्रियों पर संयम करना उसके लिये एक सुगम बात है।

एक दूसरे मित्र लिखते हैं :—

"मेरी दशा दयनीय है। वही गन्दे विचार मुझे दिन-रात सब जगह आफिस में, सड़क पर, पढ़ते हुए काम करते हुए या प्रार्थना करते हुए भी सताते हैं। मुझको कृपा करके कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे कि मैं उन्हें दबा सकूँ। मैं स्त्रीजाति को मातृ-दृष्टि से देखने लगूं ? किस तरह आँखों में केवल पवित्र प्रेम ही समा सकता है ? किस प्रकार मैं बुरे विचारों को दूर कर सकता हूँ ? मेरे सम्मुख आपका लिखा हुआ ब्रह्मचर्य पर एक लेख रखा हुआ है। किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि मैं उससे कोई लाभ नहीं उठा सकता हूँ।"

निःसन्देह यह स्थिति हृदय-विदारक है। हममें अनेक लोग इसी प्रकार के हैं। किन्तु जब मन में बुरी भावनाओं को मिटा देने की अभिलाषा बनी हुई है, तब तक निराशा के लिये कोई कारण नहीं है। आँखों को बन्द कर देना चाहिये और कानों में रुई लगा लेनी चाहिये, अगर वे पाप की ओर झुकते हों। आँखें नीची कर के चलने की आदत अच्छी है। फिर दूसरी ओर मुड़कर देखने की आवश्यकता ही नहीं रहती है। जहाँ गन्दी बातें होती हों या गन्दे गाने गाये जाते हों वहाँ से ऐसे मनुष्य को दूर चले जाना चाहिये।

जीभ पर संयम करना चाहिए। मेरा तो अनुभव है कि जिसने खान-पान का संयम नहीं किया, वह अपनी इन्द्रियों पर विजय कभी नहीं पा सकता है। जीभ पर विजय प्राप्त करना सरल बात नहीं है। किन्तु कामवासना को जीतना जीभ को जीतने पर आश्रित है। जीभ को जीतने का एक उपाय यह है कि मसालों और चटनियों को सर्वथा छोड़ देना चाहिये। यदि इतना न हो सके तो उन्हें कम तो अवश्य करना चाहिये।

दूसरी बात जो अधिक प्रभावोत्पादक है वह यह है कि हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम खाते इसलिये हैं कि हमारा शरीर बना रहे, इसलिये नहीं कि वह जीभ को अच्छा लगता है। हम जीवित रहने के लिये अपने अन्दर साँस को खींचते हैं, न कि किसी तरह के स्वाद के लिये। हम पानी इसलिये पीते हैं कि हमारी प्यास बुझ जाय। इसी तरह हमें अपनी भूख को मिटाने के लिये ही भोजन करना चाहिये। दुर्भाग्य से हमारे मां-बाप बचपन से ही हमें उलटी शिक्षा सिखाते हैं। वे हमें तरह तरह की स्वाद वाली वस्तुएं भोजन की दृष्टि से नहीं परन्तु एक झूठे प्रेम के कारण देते हैं। हमें इस घरेलू अनिष्ट वातावरण का सामना करना चाहिये।

किन्तु पशु-वासना को जीतने के लिये सब से बलवान साथी 'राम-नाम' या दूसरा कोई मंत्र हो सकता है। द्वादशाक्षर मंत्र से भी वही काम लिया जा सकता है। जिसका जो इष्ट हो वही मन्त्र जपा जा सकता है। मैंने 'रामनाम' की सलाह इसलिये दी है कि मैं बचपन से ही इसका अभ्यस्त हूँ और वह मेरी सभी लड़ाइयों में निरन्तर सहायता देता रहा है। जाप करने वाले को जिस किसी मंत्र का जाप करना हो, उसमें पूर्णतया लीन हो जाना चाहिये। यदि उसे अन्य विचार इधर उधर डिगाने लगें तो भी उसे अपना जाप चालू ही रखना चाहिये। मुझे पूरा भरोसा है कि यदि वह पूर्ण श्रद्धा से जाप करता ही रहेगा तो अवश्य ही सफल होगा। मंत्र उसके जीवन का सहारा है और उसे प्रत्येक संकट को जीतने की शक्ति देता है। उसे ऐसे पवित्र मंत्रों की सहायता से सांसारिक लाभ नहीं उठाना चाहिये। इन मंत्रों से वही मनुष्य सफलता प्राप्त कर सकता है जो अपने आचरण को उन्नत बनाता है और प्रत्येक प्रयत्नशील साधक इस बात को अच्छी प्रकार अनुभव करता है। यह बात ध्यान रखने की है कि मंत्रों को तोतों की तरह नहीं रटना चाहिये। जाप करते समय उसे

अपनी आत्मा उसमें जोड़ देनी चाहिये। तोता ऐसे मंत्रों को मशीन की तरह बिना सोचे समझे आवृत्ति करता रहता है किन्तु हमें उन मंत्रों का विचार पूर्वक जप करना चाहिये। हमें उन मंत्रों का जप इस दृढ़ आस्था से करते रहना चाहिये कि उनकी सहायता से हम अपने बुरे विचारों को भगा देंगे।

—यंग इण्डिया : सितम्बर २२, १९३६ ई०

संयम के लाभ

स्वास्थ्य को बनाये रखने के अनेक उपाय हैं; और वे सभी सर्वथा आवश्यक हैं। किन्तु सब से मुख्य एक वस्तु है—वह है ब्रह्मचर्य। इसमें सन्देह नहीं कि शुद्ध वायु, निर्मल जल, और उत्तम भोजन स्वास्थ्य को लाभ पहुँचाते हैं। किन्तु हम जितनी शक्ति प्राप्त करते हैं उतनी ही यदि नष्ट भी कर दिया करें तो स्वस्थ कैसे रह सकते हैं? यदि हम जितना कमायें उतना सब धन व्यय कर दिया करें तो निर्धन होने से कैसे बच सकते हैं? इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब तक कोई भी पुरुष या स्त्री ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करेगा तब तक उसके लिये उत्कर्ष और शक्ति का पाना असम्भव है।

तब ब्रह्मचर्य है क्या? इसका यह अर्थ है कि स्त्री और पुरुष परस्पर भौतिक वासनाओं से पृथक रहें, अर्थात् वे भोग न करें। उनके मन में इस विषय के विचार स्वप्न में भी उत्पन्न न होने पायँ। वे एक दूसरे को देखें तो सर्वथा पवित्र दृष्टि से—उनमें कामवासना का नाम मात्र को भी स्पर्श नहीं होना चाहिये। ईश्वर ने हमें जो छिपी हुई शक्ति दी है उसे अपने कड़े संयम द्वारा सुरक्षित रखना चाहिये और उसे बल और शक्ति के रूप में बदलना चाहिये—न केवल शारीरिक

और मानसिक शक्ति में, किन्तु आध्यात्मिक बल प्राप्त करके ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी बनना चाहिए।

परन्तु हम अपने चारों ओर क्या तमाशा देखते हैं? पुरुष और स्त्रियां, वृद्ध और युवक, बिना किसी संकोच के काम वासना के जाल में फँसे पड़े हैं। वे उसमें इतनी बुरी तरह लिप्त हैं कि उन्हें भले और बुरे की पहिचान ही नहीं है। मैंने अपनी आंखों से यह देखा है कि लड़के और लड़कियां इस के विषमय पाश में पड़कर पागलों की तरह बरताव करते हैं। उसी प्रकार के प्रवाह में बह कर मैंने भी वैसा ही बर्ताव किया है और दूसरा हो भी नहीं सकता था। एक क्षणिक काल्पनिक सुख के लिये हम पल भर में उस अमूल्य शक्ति को खो बैठते हैं, जिसे बड़े ही कठिन परिश्रम से प्राप्त किया जाता है। जब वह आवेश दूर हो जाता है तब हम अपने आप को एक शक्तिहीन निर्बल स्थिति में पाते हैं। दूसरे दिन सवेरे हम अपने आप को अत्यन्त दुर्बल और शान्त पाते हैं; और हमारा मन भी शिथिल हो जाता है। उसमें कार्य करने का उत्साह नहीं होता। तब उस हानि को पूर्ण करने के लिये दूध, भस्में, याकूति और न जाने किन किन वस्तुओं का सेवन एक बड़ी मात्रा में करते हैं। हम सब भांति की दुर्बलता के मिटाने वाली औषधियों का आश्रय लेते हैं; और अपने भोगजन्य विनाश का कृत्रिम साधनों से निराकारण करने के लिये चिकित्सकों के पास पहुँचते हैं। फिर से भोग के लिये शक्ति-सम्पादन करना चाहते हैं। इस प्रकार समय व्यतीत होता जाता है; कई वर्ष बीत जाते हैं और अन्त में बुढ़ापा आ घेरता है। हम बुरी तरह से अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति का सर्वनाश हुआ देखते हैं।

किन्तु प्रकृति के नियम ठीक इसके विपरीत हैं। हम जैसे जैसे वयोवृद्ध होते जायं, हमारी मानसिक शक्ति बढ़ती रहनी चाहिये। हम जितनी अधिक आयु के होंगे उतनी ही अधिक सहायता अपने

भाइयों की अपने अनुभव के कारण कर सकेंगे। सचमुच जो सच्चे ब्रह्मचारी हैं वे ऐसा ही करते आए हैं। वे मृत्यु से नहीं डरते और न मरते दम तक वे ईश्वर को भूलते हैं और न वे व्यर्थ वासना-पूर्ति में अपना समय नष्ट करते हैं। वे हँसते हँसते मरते हैं और वीरता से कयामत का सामना करते हैं। वे सच्चे पुरुष और सच्ची स्त्रियां हैं। केवल उन्हीं के लिये ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने स्वास्थ्य को बचाकर रखा है।

इस बात को हम अनुभव नहीं करते कि संयम का अभाव ही अभिमान, क्रोध, भय और ईर्ष्या को संसार में उत्पन्न करता है। यदि हमारा मन हमारे वश में न रहे; यदि हम छोटे बच्चों से भी अधिक अविवेक से दिन में एक या अनेक बार पागल बन कर बैठें, तो फिर जान बूझकर या अनजान में ऐसा कौनसा पाप है जो हम नहीं करेंगे ? फिर हमारे कार्यों के क्या परिणाम होंगे—इस बात पर हम कैसे विचार करेंगे या करने को रुकेंगे? चाहे फिर वे कार्य कितने ही बुरे और पापमय क्यों न हों ?

किन्तु आप पूछ सकते हैं, इस प्रकार का एक आदर्श ब्रह्मचारी किसने देखा है ? अगर सभी लोग ब्रह्मचारी बन जायं तो क्या सारी मनुष्य जाति समाप्त नहीं हो जायगी ? और क्या सारा संसार नष्ट नहीं हो जायगा ?" इस प्रश्न के धार्मिक अंश को हम छोड़ देंगे, हम सांसारिक दृष्टि से उस पर विचार करेंगे। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये प्रश्न हमारी निर्बलताओं और बुराइयों को ही प्रकट करते हैं। हममें ब्रह्मचर्य को पालन करने की शक्ति नहीं है, और इसीलिये अपने कर्तव्य से जी चुराने के हम लोग बहाने ढूँढते हैं। सच्चे ब्रह्मचारियों की जाति डूब नहीं चुकी है। यदि वे सरलता से मिल जाते हों तो फिर ब्रह्मचर्य का महत्व भी क्या रहे ? भारी परिश्रम क रनेवाले

सहस्रों मनुष्य हीरों की खोज में भूमि को खूब गहरा खोदते हैं और बड़ी बड़ी चट्टानों को तोड़ने के पश्चात् उन्हें कठिनाई से मुट्ठी भर हीरे प्राप्त होते हैं। फिर कितना कठोर परिश्रम ब्रह्मचर्य के उस अत्यन्त मूल्यवान हीरे को खोज के लिये होना चाहिये? यदि ब्रह्मचर्य के संयम से संसार की समाप्ति समझी जाती हो तो हमें उसकी आवश्यकता नहीं है। क्या हम ईश्वर हैं कि भविष्य के लिये इतनी चिन्ता करें? जिसने जगत् को उत्पन्न किया है, अवश्य उसीको उसे बचाने की भी चिन्ता है। हमें यह जांच करने की भी आवश्यकता नहीं है कि दूसरे लोग भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं या नहीं? किसी धन्धे या व्यवसाय को चालू करते समय क्या हम कभी इस बात पर विचार करते हैं कि यदि सारा संसार उसी धन्धे को करने लगेगा तो जगत् की दशा कैसी होगी? एक सच्चा ब्रह्मचारी बहुत आगे चलकर ऐसे प्रश्नों के उत्तर अपने आप ही मिलेगा।

किन्तु ऐसे मनुष्य, जो कि संसारिक बन्धनों में फँसे हुए हैं, वे इन सिद्धान्तों का पालन कहाँ तक कर सकते हैं? जिनका विवाह हो चुका है उन्हें क्या करना चाहिये? जिनके बच्चे हैं उन्हें क्या करना चाहिये? और उन लोगों को भी क्या करना चाहिये जो अपने आपको वश में नहीं रख सकते? हमने यह जान लिया है कि सब से ऊंची वस्तु कौनसी है जो हमें प्राप्त करनी चाहिये। हमें अपने सम्मुख उस आदर्श को सदा स्थिर रखना चाहिये और उसको पाने के लिये पूरी शक्ति लगा देनी चाहिये। छोटे छोटे बच्चे वर्णमाला के अक्षरों को जब लिखना सीखते हैं तो हम उन्हें अक्षरों का यथार्थ रूप बताते हैं। और वे जितने अच्छे ढंग से उसे बना सकते हैं बनाने का प्रयत्न करते हैं। उसी प्रकार यदि हम ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तों को आचरण में लाना चाहें तो निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर उन्हें प्राप्त कर सकते हैं और अन्त में सफलता अवश्य ही मिल सकती है। किन्तु यदि हम पहले से ही विवाह

कर चुके हैं तो हमें क्या करना चाहिये ? प्रकृति का नियम तो यह है कि ब्रह्मचर्य को तभी खण्डित करना चाहिये जब पुरुष और स्त्री को सन्तानोत्पादन की इच्छा हो। जो लोग इस नियम को स्मरण रखते हुए कभी चार-पांच वर्ष में एक बार ब्रह्मचर्य को तोड़ भी दें तो वे भोग के दास नहीं बनेंगे और न वे अपने बहुमूल्य शक्ति भण्डार को अधिक व्यय ही करेंगे। किन्तु आह! ऐसे लोग कितने हैं जो केवल सन्तान वृद्धि के उद्देश्य से ही प्रवृत्त होते हैं। अधिकतर लोग केवल कामना-पूर्ति के लिए ही भोग करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उनकी इच्छा के न होते हुए भी सन्तान होती है। अपनी कामवासना की उन्मत्तता में उन्हें उससे होने वाले परिणामों का भान ही नहीं होता। इसके लिये स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक अपराधी हैं। मनुष्य अपनी कामवासना में इतना अन्धा हो जाता है कि इस बात का विचार ही नहीं करता कि उसकी पत्नी निर्बल है और वह बच्चा जनने या उसका पालन करने के योग्य नहीं है। पश्चिम में तो लोगों ने सभी प्रतिबन्धों को तोड़ दिया है। वे भोग में अन्धे बने रहते हैं; किन्तु माता पिता बनने के उत्तरदायित्व को अपने कन्धों पर नहीं लेने की भावना से ऐसे उपायों का आश्रय लेते हैं जिनसे सन्तानोत्पत्ति बन्द रहे। इस विषय पर बहुत से ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं और सन्तान-निरोधक वस्तुओं का व्यापार निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। इस पाप से हम लोग अभी तक बचे हुए हैं; किन्तु हम अपनी पत्नियों पर बच्चों के लालन-पालन का भार रखने में सर्वथा संकोच नहीं करते। और न हम इस बात पर भी कभी विचार करते हैं कि हमारे बच्चे इतने निर्बल निर्वीर्य और दुबले-पतले क्यों हैं ? जब जब हमारे यहां बच्चे उत्पन्न होते हैं तब तब हम प्रार्थना करते हुए ईश्वर को धन्यवाद दिया करते हैं और इस प्रकार हम उस बात को छिपाने का प्रयत्न करते हैं जो कि हमारे पापों का ही परिणाम है। क्या हम इस बात को ईश्वर की अप्रसन्नता नहीं समझते कि उसने

हमें निर्बल, कामी, लूले, लंगड़े और भीरू बच्चे दिये हैं। क्या लड़के और लड़कियाँ ही बच्चे उत्पन्न करने लग जायँ यह हर्ष का विषय है? क्या इसको संकट नहीं कहना चाहिये ? हम सभी इस बात को जानते हैं कि यदि किसी पौधे पर बहुत छोटी आयु में ही फल लगने लग जाय तो वह पौधा बलहीन होने लगता है। और इसलिये हम सभी यह प्रयत्न करते हैं कि उस पर बहुत शीघ्र फल न लगें। किन्तु जब कम आयु के लड़के और लड़कियों से एक बच्चा उत्पन्न होता है तो हम लोग ईश्वर को धन्यवाद देते हैं और उसकी प्रशंसा के गीत गाने लगते हैं। क्या इससे बढ़कर कोई मूर्खता की बात हो सकती है? क्या हमारा यह विचार उचित कहा जा सकता है कि इस प्रकार से उत्पन्न हुए असंख्य बच्चे जो बलहीन हैं, चाहे वे इस देश में उत्पन्न हों चाहे बाहर, संसार को बचा सकेंगे? इस प्रकार की सन्तान निरन्तर भारी संख्या में बढ़ती जा रही है। सच तो यह है कि इस बात में हम पशुओं से भी गिर गये हैं क्योंकि वे (नर और नारी) सन्तानोत्पादन मात्र के लिए ही मिलते हैं। स्त्री और पुरुष इस बात को अपना एक पवित्र कर्तव्य समझ लें कि गर्भ के समय से लेकर बच्चा दूध पीना न छोड़ दे वहाँ तक एक दूसरे से मिलना सर्वथा बन्द रखें। किन्तु हम उस पवित्र कर्तव्य को भूल जाते हैं। हम अन्धे हो कर उस विनाश की वासना में उलझे ही रहते हैं। यह असाध्य रोग हमारे मन को निर्बल बना देता है और हमें कुछ दिन अत्यन्त व्याकुलता में व्यतीत करने के पश्चात शीघ्र ही अकाल मृत्यु का ग्रास बना देता है।

विवाहित लोगों को अपने विवाह का यथार्थ उद्देश समझ लेना चाहिये। बच्चे उत्पन्न करने की इच्छा के बिना कभी भी ब्रह्मचर्य को नहीं डिगाना चाहिये।

किन्तु जीवन की वर्तमान स्थिति में यह कितना कठिन है? हमारा भोजन, रहन सहन, हमारी बातचीत, हमारी सभी वस्तुएं ऐसी

हैं कि जो कामवासना को बढ़ाती हैं। यह काम-वासना हमारी शक्ति को कुरेद-कुरेद कर खाजाती है। हम जिस वासना की शृङ्खला से जकड़े हुए हैं उसे हम काट भी सकते हैं या नहीं—इस बात पर लोगों को सन्देह है।

इन सब कारणों से यह कहा जा सकता है; कि जो अभी तक अविवाहित हैं उन्हें विवाह नहीं करना चाहिये; किन्तु यदि व विवाह को किसी भी दशा में रोक नहीं सकते हों तो जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक उसे टालते जाना चाहिये। उदाहरण के लिये नवयुवकों को इस बात की प्रतिज्ञा ले लेनी चाहिये कि जब तक वे पच्चीस या तीस वर्ष के न हो जायेंगे, जब तक विवाह नहीं करेंगे। हम यहाँ पर उन्हें जो शारीरिक लाभ होंगे उन्हीं का वर्णन करेंगे। इनके अतिरिक्त अन्य जो लाभ होंगे, उनका विवेचन अभी नहीं किया जायगा।

जो माता पिता इस अध्याय को पढ़ें, उनसे मेरा यह निवेदन है कि वे अपने बच्चों के गले में चक्की के पाट शीघ्र विवाह कर के न लटका दें। उन्हें अपनी सन्तति की भलाई की ओर ध्यान देना चाहिये; उन्हें झूठे प्रदर्शनों पर मर मिटने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें अपनी पारिवारिक प्रतिष्ठा और मान की झूठी कल्पनाओं को छोड़ देना चाहिये और उन्हें ऐसी निर्दय प्रथाओं को ठुकरा देना चाहिये। यदि वे अपनी सन्तान का सच्चा भला चाहते हैं तो उन्हें उनकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति पर ध्यान करना चाहिये। इससे बढ़ कर और क्या उनका अहित किया जा सकता है कि वे उन्हें छोटी उम्र में ही विवाहित बना देते हैं? कितना भारी उत्तरदायित्व और चिन्ता इतनी छोटी आयु में उनके सिर पर लाद दी जाती है? स्वास्थ्य के सच्चे नियम इस बात को चाहते हैं कि यदि किसी मनुष्य की पत्नी मर जाय या किसी स्त्री का पति मर जाय तो उन्हें अपना शेष जीवन अकेले ही

बिताना चाहिये। "युवा पुरुष और स्त्री अपने वीर्य और रक्त को विषय-भोग में नष्ट करें या नहीं?"—इस सवाल पर डाक्टरों का मतभेद है। कुछ इसके विरोधी हैं। किन्तु यदि डॉक्टर लोग इस विषय में एकमत नहीं हैं तो यह मानकर कि डाक्टर इसके समर्थक हैं, हमें भोग में अधिक नहीं फंसना चाहिये। मैं अपने व्यक्तिगत और दूसरे लोगों के अनुभव के आधार पर, बिना किसी हिचकिचाहट के, दावे के साथ कह सकता हूँ कि भोग न केवल एक अनावश्यक वस्तु ही है; किन्तु वह शारीरिक स्वास्थ्य को बुरी तरह धक्का पहुँचाने वाली भी है। सारी शारीरिक व मानसिक शक्ति, जो लम्बे समय में प्राप्त हुई है, एक ही बार के सम्भोग में विनष्ट हो जाती है। यह खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त करने के लिये बहुत समय चाहिये फिर भी यह कहना कठिन है कि वह विनाश पूर्णतया दूर हो सकता है या नहीं? एक टूटे हुए काँच को जोड़ा जा सकता है और वह काम में लिया जा सकता है; किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वह टूटा हुआ काँच नहीं है।

यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है कि हम अपनी जीवन शक्ति को वहाँ तक कभी स्थिर नहीं रख सकते जहाँ तक कि हम शुद्ध वायु, शुद्ध जल और शुद्ध पौष्टिक भोजन और साथ ही साथ अच्छे विचारों को नहीं अपनायेंगे। स्वास्थ्य और सदाचार में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि हम तब तक पूर्णतया स्वास्थ नहीं रह सकते, जब तक कि हम अपने जीवन को शुद्ध और पवित्र न बना लें। एक सच्चा मनुष्य, जो अपनी पहली भूलों को भूल कर पवित्र जीवन बिताना आरम्भ कर देता है, उसे अपनी सचाई में सफलता प्राप्त होगी। जो लोग थोड़े समय के लिये भी सच्चे ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उन्हें इस बात का अनुभव होता है कि किस प्रकार उनका शरीर और मन निरन्तर शक्ति में बढ़ता ही जाता है और वे फिर किसी भी दशा में अपने उस कोष से दूर होना नहीं चाहते हैं। मैं स्वयं

ब्रह्मचर्य की महिमा को अच्छी प्रकार समझ चुकने के अनन्तर भी भूलें कर चुका हूँ और निःसन्देह उनका बदला मैंने बड़े कष्ट से चुकाया है। मेरी दशा में इन भूलों के पहले और पीछे जो भारी परिवर्तन हुए उन पर विचार करते हुए मुझे लज्जा और दुःख होता है। किन्तु पिछली भूलों से मैंने अपने कोष को सावधानी से बचाए रखने का पाठ सीख लिया है और मैं पूर्ण आशा रखता हूँ कि ईश्वर की कृपा से उसे आगे भी बचाता रहूँगा; क्योंकि मैंने स्वयं ही ब्रह्मचर्य से ऐसे लाभ प्राप्त किये हैं जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता।

मेरा विवाह बचपन में ही हो गया था। छोटी आयु में ही मैं बच्चों का बाप हो चुका था। परन्तु जब मैंने अपनी वास्तविक दशा को पहचाना तो मुझे प्रतीत हुआ कि मैं जीवन के मौलिक नियमों को तोड़ रहा हूँ और अज्ञान में डूबा हुआ हूँ। मैं इस बात को लिखने के लिये अपने आप को बहुत ही भाग्यशाली मानूंगा, यदि कम से कम एक भी पाठक मेरी भूलों से और अनुभवों से शिक्षा ले लेगा और लाभ उठायगा। कई लोगों ने मुझे कहा है और मैं भी इस बात को मानता हूँ कि मुझ में स्फूर्ति और उत्साह है और मैं किसी प्रकार की मानसिक दुर्बलता नहीं रखता हूं। कुछ लोग मुझ पर यह दोष लगाते हैं कि मेरी स्फूर्ति आग्रहके कारण से है। कुछ भी हो मुझ में अपने प्रारम्भिक जीवन की भूलों के कारण अब भी शारीरिक और मानसिक शक्ति है और फिर भी जब मेरी तुलना अपने मित्रों से की जाय तो मैं अपने आपको बलवान और स्वस्थ कह सकता हूँ। यदि बीस वर्ष पर्यन्त तक भोगमय जीवन बिताने के पीछे भी इस दशा को पा सका हूँ सो मैं यदि उन बीस वर्षों में भी अपने आपको पवित्र रखता तो कितना शक्ति-भण्डार मुझ में बना रहता। मुझे इस बात का पूर्ण रूप से भरोसा है कि यदि मैं एक अखण्ड ब्रह्मचारी होता तो मेरी स्फूर्ति और मेरा उत्साह जो अभी है वह सहस्र-गुना होता और मैं उन्हें अपने देश

की उन्नति के लिये पूर्ण तत्परता से लगाता। यदि मुझ जैसे अपूर्ण ब्रह्मचारी को भी इतना लाभ प्राप्त हो चुका है तो कल्पना कीजिए कि एक पूर्ण ब्रह्मचारी कितनी भारी आश्चर्य-जनक शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्ति को पा सकता है और हमारे सम्मुख प्रकट कर सकता है ?

जब ब्रह्मचर्य का इतना भारी और कठोर नियम है तो फिर उन लोगों की तो बात ही क्या है जो अनुचित और अन्याय्य भोग करते हैं और ऐसा पाप करते हैं जो क्षमा नहीं हो सकता। जो बुराई व्यभिचार और वेश्यागमन से उत्पन्न होती है वह धर्म और नीति के लिये एक भारी समस्या है और उसका समाधान स्वास्थ्य के प्रकरण में नहीं किया जा सकता। यहां तो इस बात को दिखाया जायगा कि सहस्रों पुरुष और स्त्रियां जो ऐसे बुरे कार्य करने के अपराधी हैं, जननेन्द्रिय के रोगों से बुरी तरह व्याकुल हैं। ईश्वर का यह एक भारी न्याय है कि वह ऐसे पापियों को अविलम्ब ही दण्ड दे देता है। वे अपने इस छोटे से जीवन को इन रोगों से छुटकारा पाने के लिये व्यर्थ ही अर्ध-वैद्यों के जाल में पड़ कर नष्ट कर देते हैं। यदि व्यभिचार और वेश्यागमन उठ जाय तो कम से कम वर्तमान डाक्टरों में से आधे अपने व्यवसाय से हाथ धो बैठें। जननेन्द्रिय के रोगों ने मनुष्य को अपने पंजे में इतनी बुरी तरह से फंसा रखा है कि समझदार डाक्टरों को यह बात स्वीकार करनी पड़ी है कि जब तक व्यभिचार और वेश्या-वृति बनी रहेगी मनुष्य के बचने की आशा नहीं की जा सकती। चिकित्सा के लिये कितनी ही औषधियां इतनी विषमय होती हैं कि यद्यपि कुछ समय के लिये उनसे कुछ राहत पहुँच भी जाय फिर भी दूसरे अधिक भयानक रोगों को बढ़ा देती हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चालू रहते हैं।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुए जो कि मेरी आशा से अधिक लम्बा हो चुका है, मुझे थोड़े में ही यह प्रकट कर देने दीजिये कि जिनका विवाह हो चुका है वे किस प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं। स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये केवल वायु, जल और भोजन के नियम पर ही ध्यान रखने से काम नहीं चलेगा। पति को अपनी पत्नी के साथ एकान्त में नहीं रहना चाहिये। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्त्री और पुरुष एकान्त में केवल भोग की इच्छा से ही रहते हैं। उन्हें रात में पृथक् पृथक् कमरों में सोना चाहिए और दिन में निरन्तर अच्छे कार्यों में लगा रहना चाहिए। उन्हें ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहियें जिनसे ऊँचे विचार उत्पन्न हों। उनको महापुरुषों के जीवनकार्यों पर विचार करना चाहिए, और उन्हें सदा इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि भोग ही दुःखों की जड़ है। जब कभी भोग की कामना सताने लगे, तब उन्हें ठंडे पानी से नहा लेना चाहिए। उससे भोग की इच्छा दब जायगी और वह भले कार्यों को करने की शक्ति में परिणत हो जायगी। यह कार्य करना कठिन तो है, किन्तु हम कठिनाइयों से युद्ध करने के लिए और उन पर विजय पाने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं, और जो इस प्रकार रहने को उद्यत नहीं होता वह सच्चे स्वास्थ्य के ऊँचे सुख का स्वाद नहीं पा सकता।❀

❀ रचयिता की 'स्वास्थ्य पर एक गुजराती पुस्तक' के एक अध्याय का भाषान्तर। भाग पहला—अध्याय नवां।

ब्रह्मचर्य अथवा पवित्रता

हमें जिन बातों का पालन करना है उनमें से तीसरी बात है 'ब्रह्मचर्य'। सही बात तो यह है कि सभी व्रत सचाई से उत्पन्न होते हैं और वे उसकी पुष्टि के लिए ही हैं। जिस मनुष्य ने अपना नाता सचाई के साथ जोड़ लिया है और जो केवल सत्य का ही पुजारी है वह यदि अपनी योग्यता को अन्य बातों में लगाये तो सचाई के प्रति विश्वासघात करेगा। फिर वह अपनी इन्द्रियों को कैसे संतोष दे सकेगा। एक मनुष्य जो अपनी सारी शक्ति सचाई को पहचानने में ही लगाता है, जिसमें पूरे त्याग की अवश्यकता है, उसे सन्तानोत्पत्ति करने और गृहस्थ चलाने जैसे स्वार्थ के कार्यों के लिये समय नहीं है। सचाई को पाना, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, स्वार्थ-परायणता द्वारा सम्भव नहीं है।

यदि हम अहिंसा की दृष्टि से इस बात को देखे तो हमें ज्ञात होगा कि त्याग के बिना अहिंसा का निभना असंभव है। अहिंसा का अर्थ है सारे संसार से प्रेम रखना। यदि एक पुरुष अपना प्रेम एक स्त्री से ही रखने लगे या एक स्त्री अपने सम्पूर्ण प्रेम का केन्द्र एक ही व्यक्ति को बनाले तो शेष जगत् के लिये क्या रह जायगा? इसका तो सीधा अर्थ यह होगा कि "सब से पहले हम दोनों हैं—अन्य सब जायं भाड़ में।" एक सत्यपरायण पतिव्रता स्त्री अपना सब कुछ अपने पति के लिये अर्पण कर देना चाहती है; और एक पत्नीव्रत पति अपना सब कुछ अपनी पत्नी के लिए न्यौछावर कर देने को उद्यत है तो यह स्पष्ट होता है कि ऐसे मनुष्य विश्व-प्रेम को आदर्श नहीं बना सकते। सभी मनुष्यों को भाई-बन्धुओं की तरह नहीं देख सकते; क्योंकि उन्होंने तो अपने प्रेम के चारों ओर सीमा बांधने वाली दीवार खड़ी कर दी है जितना जितना उसका कटुम्ब बढ़ा हुआ है उतना ही उतना वह विश्व-प्रेम से दूर है। इसलिये जिसे अहिंसा के

नियम को निभाना है वह विवाह नहीं कर सकता; फिर अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य किसी से प्रेम करने का तो प्रश्न ही नहीं रहता है।

तब उन लोगों के विषय में क्या कहना चाहिये जिनका विवाह पहले से ही हो चुका है। क्या वे सचाई कभी न पा सकेंगे? क्या वे मनुष्यों की सेवा के लिये कोई त्याग नहीं कर सकेंगे? उनके लिये भी मार्ग है। वे इस प्रकार बर्ताव कर सकते हैं, मानों उनका विवाह ही नहीं हुआ है। जिन्होंने इस प्रकार सुखी जीवन को बिताया है, वे मेरी बात को अच्छी प्रकार समझ सकेंगे। इस प्रकार के अनुभव से मुझे ज्ञात हुआ है कि बहुत लोग सफल हुए। यदि विवाहित जोड़ा एक दूसरे को भाई-बहन की तरह समझने लगे तो बिना रोक टोक संसार की सेवा कर सकते हैं। ऐसा विचार करते ही कि सभी स्त्रियां माँ, बहिन या बेटी के समान हैं, वह ऊँचा उठ जायगा और उसके सभी बन्धन टूट जायंगे। इसमें पति और पत्नी दोनों की कुछ भी हानि नहीं है; परन्तु इस प्रकार वे अपने लिये और अपने कुटुम्बियों के लिये विकास के साधन बढ़ाते ही जांयगे। उनका प्रेम पूर्णतया पवित्र हो जायगा और इस कारण अधिक बलवान् रहेगा। अपवित्रता के दूर हो जाने से वे एक दूसरे की सेवा अच्छी प्रकार कर सकगे। उनके बीच लड़ाई-झगड़ों के अवसर न्यून हो जायेंगे। जहाँ पर बँधी हुई और स्वार्थ से भरी हुई प्रीति है, वहाँ पर लड़ाई-झगड़े अधिक होते हैं। यदि ऊपर बतलाई योजना अनुकूल आजाय तो ब्रह्मचर्य के शारीरिक लाभ उसकी तुलना में नीची श्रेणी के गिने जायंगे। जानबूझ कर भोग में अपनी बहुमूल्य शक्ति को नष्ट कर देना कितनी भारी भूल है। शारीरिक सुख लेकर पुरुष और स्त्री उस भारी शक्ति को खो देते हैं जो उन्हें ईश्वर ने अपने शरीर और मन की उन्नति के लिये दी है। इस प्रकार के अपव्यय से वे कई प्रकार की व्याधियों के शिकार

बन जाते हैं। दूसरे नियमों की तरह ब्रह्मचर्य का पालन भी मन, वचन और कर्म के द्वारा होना चाहिये। हमने गीता में पढ़ा है और वही बात अनुभव से हमें प्रतीत हुई है कि एक अज्ञानी मनुष्य जो अपने शरीर को तो वश में करना चाहता है किन्तु बुरे विचारों को अपने मन में बढ़ने देता है, उसका प्रयत्न निरर्थक रहता है। यदि मन को स्वच्छन्दता से कार्य करने दिया जाय और शरीर को रोका जाय तो हानि होगी। जहाँ जहाँ मन दौड़ता है, शरीर भी आगे-पीछे वहाँ पहुँचता ही है। यहाँ पर इस भेद को जान लेना आवश्यक है। गन्दे विचारों को अपने मन तक पहुँचाने देना और अपने मन को गन्दे विचारों में जाने देना ये दोनों दो बातें हैं। यदि हम मन की कुप्रवृति का साथ नहीं देंगे तो हमारी ही जीत होगी। अपने जीवन में प्रतिक्षण हमें इस बात का अनुभव होता है कि जब हमारा शरीर हमारे वश में रहता है तो भी मन नहीं रहता है। यह शारीरिक संयम कभी ढीला नहीं होने देना चाहिये। साथ ही साथ हमें निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये कि मन भी हमारे वश में रहे। इससे अधिक या कम हम कुछ नहीं कर सकते। यदि हम मन को स्वच्छन्दता दे दें तो शरीर और मन खींचातानी करेंगे और हम अपने प्रति झूठे और असमर्थ सिद्ध होंगे। जब तक हम बुरे विचारों को रोकते रहेंगे शरीर और मन साथ रहेंगे। ब्रह्मचर्य को निभाना बहुत ही कठिन और असम्भव समझा जारहा है। इस प्रकार के विचार के लिये जब कारण ढूँढा गया तो हमें विदित हुआ कि लोगों ने ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बहुत ही छोटा बना दिया है। केवल पाशविक वासना को दबाना ही ब्रह्मचर्य मान लिया गया है। मैं समझता हूँ कि यह विचार अधूरा और भ्रान्त है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है सभी इन्द्रियों को वश में रखना। एक मनुष्य जो अपनी किसी एक इन्द्रिय को तो अपने वश में रखता है और अन्य सभी इन्द्रियों को निरङ्कुशता से काम करने देता है। वह

अवश्य ही अपने प्रयत्नों में असफल होगा। कानों से कामोत्तेजक कहानियां सुनना, आँखों से मोहने वाली वस्तुएं देखना, जीभ से चटपटी वस्तुएं चखना, हाथों से गुदगुदी उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को छूना और तब केवल एक ही इन्द्रिय को वश में रखने की आशा करना ठीक वैसा ही है जैसा कि आग में हाथ रख कर जलने से बचने की आशा करना। इसलिये जिसने एक को वश में करने की ठान ली है उसे अन्य सब इन्द्रियों को भी वश में करने का व्रत लेना चाहिये। मैंने सदा इस बात को देखा है कि ब्रह्मचर्य के अर्थ को जिन लोगों ने बहुत ही छोटा माना है उन्हें हानि उठानी पड़ी है। यदि हम अपनी सभी इन्द्रियों पर एक साथ संयम करने का प्रयत्न करें तो वह ठीक ढंग का प्रयत्न होगा और वह सफलता की ओर लेजायगा। जीभ ही शायद सब से अधिक गिराने वाली है। इसी कारण से हमने आश्रम में जीभ पर संयम करने के लिये अन्य प्रतिबन्धों के उपरान्त एक विशेष व्यवस्था रखी है।

हमें ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ स्मरण रखना चाहिये। 'चर्य' का मतलब है रहन-सहन। इसलिये 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है वह रहन-सहन जिसके द्वारा हम ब्रह्म को पा सकें अर्थात् सत्य को पा सकें। इस शब्दार्थ से एक बात स्पष्ट हो जाती है यानी सभी इन्द्रियों पर संयम रखा जाय। हमें ब्रह्मचर्य के उस अपूर्ण और भ्रामक अर्थ को भूल जाना चाहिये जो हमें केवल इतना ही बतलायें कि भोगेन्द्रिय पर संयम करना।

—यरवदा मंदिर से

———

अध्याय ३

आत्म-संयम की व्याख्या

मुझे ब्रह्मचर्य पर कुछ शब्द बोलने को कहा गया है। कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर मैं समय समय पर 'नव जीवन' में अपने विचार प्रकट करता हूँ। किन्तु उन्हें मैंने अपने भाषणों में स्थान नहीं दिया। उनमें से एक ब्रह्मचर्य भी है। मैं शायद ही इस पर कभी बोला हूँ। क्योंकि मैं यह जानता हूं कि यह विषय शब्दों द्वारा पूर्णतया नहीं समझाया जा सकता है। यह बहुत कठिन विषय है। आप चाहते हैं कि मैं ब्रह्मचर्य पर जिसका साधारणतया एक संकुचित क्षेत्र माना जाता है उतने ही में रहकर बोलूं न कि ब्रह्मचर्य के उस विस्तृत अर्थ को लेकर जो सभी इन्द्रियों को वश में करने की शिक्षा देता है। ब्रह्मचर्य का जो प्रचलित अर्थ है उस ढंग पर भी उसका निभाना शास्त्रों में कठिन बताया गया है। मुख्यतया यह बात सही है: किन्तु मैं कुछ ऐसे अनुभव उपस्थित करना चाहता हूं जो इसके विपरीत हैं। क्यों कि हम दूसरी इन्द्रीयों पर संयम नहीं करते हैं इसलिये ब्रह्मचर्य कठिन प्रतीत होता है। दृष्टान्त के लिये जीभ को ही लीजिए जो कि सब की अगुआ है।

जिन्हें पशुओं के जीवन का ज्ञान है उन विद्वानों का कहना है कि छोटे पशु ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन मनुष्य की अपेक्षा अधिक करते हैं। उदाहरण चौपायों का ही लीजिए और यह बात ठीक भी है। इसका कारण यह है कि चौपायों का अपनी जीभ पर पूरा संयम है। विचार पूर्वक नहीं किन्तु प्राकृतिक रूप से। वे केवल घास खाकर ही रहते हैं

और वह भी अनिवार्य है। वे जीवित रहने के लिये खाते हैं; खाने के लिये जीवित नहीं रहते। किन्तु हमारी स्थिति सर्वथा विपरीत है। माँ सभी प्रकार के स्वाद वाले पदार्थ खिला खिला कर अपने बच्चों की आदत बिगाड़ती है। उसका ऐसा विचार है कि बहुत अधिक मात्रा में खिलाकर ही प्रेम का प्रदर्शन किया जा सकता है। ऐसा करके वह अपने बच्चों को भोजन का यथार्थ सुख नहीं लेने देती। प्रत्येक भोजन उसके लिये स्वाभाविक स्वाद से हीन और अरुचिकर बन जाता है। स्वाद तो भूख पर आश्रित है। जो सचमुच भूखा है उसे एक सूखी रोटी का टुकड़ा भी स्वादु प्रतीत होगा। किन्तु जिसे भूख नहीं है उसे अच्छी मिठाई में भी स्वाद नहीं मिलेगा। हम अपने पेट में ठूंसने के लिये अनेक प्रकार के मसाले डालकर कई तरह की भोजन की वस्तुएं बनाते हैं और फिर आश्चर्य करने लगते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन क्यों नहीं होता वह क्यों कठिन है।

ईश्वर ने जो आँखें हमें दी हैं उनको हम बुरे और गन्दे काम में लेते हैं। योग्य बातों में उन्हें प्रेरित नहीं करते हैं। माँ, गायत्री को क्यों नहीं सीखती और क्यों नहीं अपने बच्चों को सिखाती? उसे मंत्र के गूढ़ और गहरे भाव को समझने की आवश्यकता नहीं है। उसको तो इतना ही समझ लेना और अपने बच्चों को समझा देना पर्याप्त होगा कि इस में भगवान् सूर्य की महिमा का वर्णन है। मैं उस मंत्र का एक स्थूल अर्थ आपके सामने रखता हूं। हमें सूर्य की किस प्रकार स्तुति करनी चाहिये? सूर्य की ओर देखकर और पानी का अर्ध्य देकर, मानों वह आँखों से ही निकला हो। गायत्री के रचयिता एक ऋषि या महात्मा थे। उन्होंने हमें सिखाया है कि हमें इतना रमणीय नाटक हमेशा अपनी आँखों के समक्ष कहीं नहीं दिखाई देगा जितना कि सूर्य के निकलने के समय दिखाई देता है। ईश्वर से बढ़ कर दूसरा कोई नाटक करने वाला नहीं है। और आकाश से बढ़कर प्रभाव जनक कोई दूसरा नाटकघर भी नहीं

है। किन्तु वह माँ कहां चली गई जो अपने बच्चे का मुंह धोती हुई यह कहती है कि बेटा! एक बार आकाश की ओर भी देख ले। दुर्भाग्य से हमारे देश की माताएं सर्वथा भिन्न ही बातों में लगी रहती हैं। पुत्र शायद एक बहुत बड़ा आफिसर बन सकता है; उसकी पाठशाला की शिक्षा इसीलिए धन्य है। किन्तु हम उसकी शिक्षा के उस बड़े भाग की ओर ध्यान नहीं देते जिसका सम्बन्ध उसके घरेलू जीवन से है। माँ-बाप अपने बच्चों को भारी कपड़ों के बोझ से लाद दिया करते हैं और इस बात को वे उन्हें सुरूप बनाने में सहायक समझते हैं। कपड़े तो अपने शरीर को ढकने के लिये हैं; उसे गर्मी और सर्दी से बचाने के लिये हैं; उसे सुन्दर बनाने के लिये नहीं हैं। यदि बच्चा ठंड के मारे ठिठुर रहा है तो उसे सड़क पर दौडाओ या उसे खेत में काम कराओ। इसी प्रकार आप उसका शरीर स्वस्थ बनाने में सहायता पहुंचा सकते हैं। बच्चे को घर में बन्द रखकर हम उसके शरीर में अस्वाभाविक और अयोग्य उपाय से गरमी पहुँचाते हैं। उसके शरीर को अनावश्यक दुलार करके हम उसे अशक्त बनाने में ही सफल होते हैं। इतना तो कपड़े के विषय में कहा गया है। फिर जो बातें घरों में हुआ करती हैं उनका भी बच्चों के मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। बड़े-बूढ़े उसके विवाह की चर्चा करते रहते हैं। जिन पदार्थों को वह अपने चारों ओर देखता है वह भी उसे बिगाड़ते हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि हम अब तक भी पशुता की चरम सीमा पर नहीं पहुंचे। ऐसी स्थिति में भी संयम के प्रयत्न किये जाते हैं; जब कि उसका रखना प्रायः असंभव है। ईश्वर बड़ा ही दयालु है। उसकी कृपा ऐसी ऊंची है कि मनुष्य भूलों पर भूल करता जाता है, फिर भी ईश्वर उसे बचाता ही रहता है। ब्रह्मचर्य के मार्ग से यदि हम इन सब विघ्नों को दूर कर दें तो उसका पालन न केवल संभव ही हो जाय परन्तु सुगम भी हो जाय। इस प्रकार हम अशक्त हैं; फिर भी हमें संसार के उन लोगों से टक्कर लेनी है जिनमें हम से अधिक शारीरिक शक्ति है।

ऐसा करने के दो उपाय हैं एक दैवी और दूसरा शैतानी। शैतानी उपाय तो वे हैं जिनके द्वारा भले या बुरे ढंग से शारीरिक बल को बढ़ाया जाय—जैसे गाय का माँस खाना आदि। मेरे एक लंगोटिये मित्र मुझे मांस खाने के लिये कहा करते थे। वह कहते थे कि अंगरेजों से लोहा लेने के लिये अपने शरीर को बढ़ाने का दूसरा अन्य कोई उपाय ही नहीं है। गाय का मांस खाना जापान के लोगों में उस समय अधिक बढ़ गया जब उसे जातियों से टक्कर लेने का अवसर आया। यदि हमें शैतानी ढंग से अपने शरीर को बढ़ाना है तो उसका अनुकरण करना चाहिये। किन्तु यदि दैवी रीति से अपने शरीर को बनाना चाहते हैं तो एक ही मार्ग है—ब्रह्मचर्य का पालन। लोग जब मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं तो मुझे अपने पर दया आती है। इस प्रकार का वर्णन मुझ जैसे मनुष्य को कैसे फब सकता है जिसका विवाह हुआ हुआ है और जिसके सन्तान भी है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी को कभी ज्वर, सिर दर्द, खाँसी और पेट की व्याधि नहीं सताती, किन्तु मैं इनसे सताया गया हूँ। डाक्टरों का कहना है कि नारंगी का बीज यदि अंतड़ियों में फंस जाय तो उससे भी एपेन्डीसाइटिस हो सकती है। किन्तु एक शुद्ध और स्वस्थ शरीर में नारंगी का बीज नहीं ठहर सकता। जब आँतें निर्बल हो जाती हैं तब ऐसी बाहरी वस्तुएं उनमें फंस जाती हैं और वे उन्हें निकाल कर बाहर नहीं फेंक सकती हैं। मेरी अंतड़ियाँ अवश्य दुर्बल हुई होंगी और इसीलिये एपेन्डीसाइटिस का रोग मुझे हुआ। बच्चे सभी प्रकार के पदार्थ खाते हैं। माताएं क्या उन्हें प्रतिक्षण थोड़े ही देखती रहती हैं? फिर भी वे नहीं बीमार होते हैं; क्योंकि उनकी अंतड़ियाँ ठीक ठीक काम करती हैं। इसलिये भूल कर भी मुझे कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी न समझे। उसकी शक्ति तो असीम होनी चाहिये। मैं एक आदर्श ब्रह्मचारी भी नहीं हूँ। यद्यपि मैं वैसा बनने को आतुर हूँ।

ब्रह्मचर्य का यह अर्थ नहीं है कि वह किसी भी दशा में किसी स्त्री को चाहे वह उसकी बहन ही क्यों न हो न छूए। किन्तु उसका अर्थ यह है कि जिस समय उसे किसी भी स्त्री को छूने का अवसर हो तो उसका मन उतना ही शुद्ध और शान्त रहना चाहिये जितना कि एक काग़ज़ के टुकड़े को छूते समय रहता है। उस मनुष्य का ब्रह्मचर्य निरर्थक है जो अपनी रोग ग्रस्त बहिन की सेवा करने से हिचकता है। उसे एक सुन्दर से सुन्दर स्त्री के साथ रह कर उतना निरपेक्ष और शीतल बने रहना चाहिये जितना कि एक मृत शरीर को स्पर्श करके होता है। अगर आप चाहते हैं कि आप के बच्चे इस प्रकार का ब्रह्मचर्य प्राप्त करें तो उनकी पढ़ाई की वर्तमान पद्धति आप नहीं रख सकते। वह तो मुझ जैसे ब्रह्मचारी के ही अधीन किया जाना चाहिये। यद्यपि मैं भी अधूरा हूँ।

ब्रह्मचारी स्वभाव से एक संन्यासी है। ब्रह्मचर्याश्रम संन्यास से ऊंचा है; किन्तु हमने उसे अत्यन्त गिरा दिया है और इसीलिये गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम दोनों गिर चुके हैं और सन्यास तो लुप्त ही हो चुका है। इस प्रकार की हमारी शोचनीय दशा है।

सेवा-समाज भादरण में गुजराती में एक भाषण दिया गया जो २६ जनवरी १९२५ के 'नव जीवन' में प्रकाशित हुआ उसका श्री० वी० जी० देसाई ने अनुवाद किया।

आत्म-संयम की सिद्धि के उपाय

अँग्रेजी शब्द 'Celibacy' का समानार्थक संस्कृत शब्द 'ब्रह्मचर्य' हो सकता है और 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ "Celibacy" के अर्थ से अधिक व्यापक है। सभी इन्द्रियों और शरीर के सभी अंगों पर पूर्ण अधिकार कर लेना ब्रह्मचर्य कहलायगा। एक पूर्ण ब्रह्मचारी के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। किन्तु वह एक अत्यन्त ऊँची बात है, जिसको बहुत कम लोग प्राप्त कर सकते हैं। वह रेखा-गणित की 'रेखा' के समान है जो केवल मन में आंकी जा सकती है। वह सही सही कहीं खींची नहीं जा सकती है। किन्तु वह भी ज्यामिति (Geometry) की एक आवश्यक परिभाषा है; जिसके बड़े महत्त्व के परिणाम होते हैं। इसलिए एक पूर्ण ब्रह्मचारी की केवल कल्पना ही की जा सकती है। किन्तु यदि हम इतने ऊँचे आदर्श को अपने विचार में निरन्तर न रखें तो हमारी स्थिति उस जल-यान के समान हो जायगी जिसकी पतवार जाती रही हैं। इस काल्पनिक आदर्श के हम जितना समीप पहुँचते जायँगे उतने ही अधिक पूर्ण होते जायँगे।

किन्तु कुछ समय के लिये मैं ब्रह्मचर्य को उसी सीमा तक मान लेता हूँ; जिसमें Celibacy का भाव आसकता है। मैं इस बात पर पूरा विश्वास रखता हूँ कि मन वचन, और कर्म से पूर्ण संयम रखने पर ही आत्मिक-शक्ति मिल सकती है। जिस जाति में ऐसे मनुष्य नहीं हैं वह इस कमी के कारण से निर्बल है। ब्रह्मचर्य के लिये इतना बल इसी कारण से देता हूँ कि उसकी वर्तमान समय में अर्थात् सामाजिक क्रान्ति और उथल-पुथल के समय में एक भारी आवश्यकता है।

हम लोग असाधारणतया रोग दुष्काल, और दरिद्रता से तो घिरे ही रहते हैं—यहाँ तक कि लाखों भूख के मारे मरते हैं। हम इस

बुरी तरह से दासता में पिसे जा रहे हैं कि बहुत से उसके यहाँ तक अभ्यस्त बन चुके हैं कि उन्हें इस दासता का भान ही नहीं है। हमारा आर्थिक, मानसिक और नैतिक बल प्रतिदिन कम होता जारहा है फिर भी वे यह माने हुए हैं कि शनैः शनैः उन्नति की ओर बढ़ रहे हैं। सैनिक व्यय निरन्तर बढ़ता ही जारहा है। जान-बूझ कर लंकाशायर और इंगलैण्ड के व्यापारियों को लाभ पहुँचाने वाली हानिकर आर्थिक नीति और शासन के विभिन्न विभागों को चलाने पर अत्यधिक व्यय हिन्दुस्थान के सिर पर टैक्स या कर के रूप में एक भारी बोझा लादती जारही है। देश की दरिद्रता बहुत बढ़ चुकी है। इसमें बीमारियों का सामना करने का सामर्थ्य नहीं रहा है। श्री० गोखले के शब्दों में— "शासन की शैली ऐसी है कि उसने राष्ट्र के उत्थान को कुचल रखा है" इसमें लम्बे से लम्बे आदमी को उसके समक्ष झुकना पड़ता है। अमृतसर में हिन्दुस्थानियों को पेट के बल रेंगना पड़ा था। जानबूझ कर पंजाब का अपमान करना और हिन्दुस्थान के मुसलमानों के साथ किये गये प्रतिज्ञा-भङ्ग के लिये क्षमा मांगने से अस्वीकार करना उसके नैतिक अत्याचारों के नवीन प्रमाण हैं। उनकी ऐसी काली करतूतें हमारी आत्मा तक को आघात पहुंचाती हैं। यदि हम इन दोनों भारी अपमानों को सहन कर लेते हैं तो हमारी मनुष्यता की समाप्ति ही हो जाती है।

हम में से जो ऐसी स्थिति को जानते हैं उनके लिए जैसा मैंने कहा है इस प्रकार के गिरे हुए वायु-मण्डल में क्या सन्तान को उत्पन्न करना कोई भी भला आदमी ठीक कहेगा? हम केवल दासों और अशक्तों की ही संख्या बढ़ाएंगे। हम भूख और रोग से सताये जारहे हैं। हम असहाय हुए हुए हैं। जब तक भारत स्वतन्त्र न हो जायगा, जब तक उसमें कृत्रिम दुष्काल, (जिसका कि सामना किया जा सकता है) को दूर करने की शक्ति न होगी। दुष्काल के समय में लोगों के पेट पालन

का ठीक सामर्थ्य न प्राप्त कर ले, मलेरिया, हैजा, इन्फ्लुएन्जा और अन्य फैलने वाली व्याधियों को मिटाने की शक्ति न प्राप्त करले तब तक उसे सन्तान उत्पन्न करने का कोई अधिकार नहीं है। मैं पाठकों से इस बात को छिपाना नहीं चाहता कि जब मैं इस देश में उत्पत्ति की वृद्धि के समाचार पाता हूँ तो मुझे भारी दुःख होता है। मुझे यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि मैंने कई वर्ष तक अपनी इच्छा से संयम रख कर सन्तान नहीं उत्पन्न होने दी है। भारत आज इतना असहाय है कि वह वर्तमान जन संख्या का भी प्रबन्ध नहीं कर सकता। इसलिये नहीं कि उसकी जनसंख्या बहुत अधिक है परन्तु इसलिये कि उस पर एक विदेशी शासन है जो निरन्तर उसके उद्योग-धंधों पर कुल्हाड़ी मारता ही जारहा है।

सन्तानोत्पादन करना कैसे रोका जाय? यूरोप के समान अनैतिक और कृत्रिम उपायों से? नहीं, परन्तु अनुशासन और आत्म-संयम के आधार पर। माता पिता अपनी सन्तान को ब्रह्मचर्य की शिक्षा दें। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार विवाह की आयु कम से कम पच्चीस वर्ष की बतलाई गई है। यदि इस देश की माताओं को यह समझाया जा सके कि अपनी सन्तान को विवाह के लिये शिक्षा देना एक पाप है, तो हमारे यहाँ आधे विवाह अपने आप रुक जायं। "हमारे देश का जल वायु गर्म है इस कारण से यहाँ लड़कियाँ जल्दी मासिक-धर्म में आने लग जाती हैं"—इस बात पर हमें विश्वास नहीं रखना चाहिये। जल्दी मासिक-धर्म में आने का जो एक झूठा डर है उससे बढ़ कर भद्दी रूढ़ि मुझे कोई नहीं प्रतीत होती। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि मासिक-धर्म का जल वायु से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारे घरेलू जीवन में जो मानसिक और नैतिक शिक्षा मिलती है उसका प्रभाव आगे चल कर शीघ्र मासिक-धर्म चालू होने में सहायक होता है। माताएँ और अन्य सम्बन्धी इस बात को एक धार्मिक कर्तव्य समझते हैं कि वे अपने भोले-

भाते बच्चों को यह ज्ञान दे दें कि किसी विशेष आयु में पहुँचने पर उनका विवाह कर दिया जायगा। जब कि वे बहुत छोटे—यहाँ तक कि गोद के बालक ही होते हैं उनकी सगाई कर दी जाती है। बच्चों का वेष और भोजन भी कामवासना को उत्तेजना देने में सहायता करता है। हम बच्चों को गुड़ियों की तरह कपड़े पहनाते हैं वह भी उनकी नहीं अपनी इच्छानुसार और अपनी शान के लिये। मैंने सैकड़ों बच्चों का लालन-पालन किया है और उन्होंने बिना हिचकिचाहट के जो भी कपड़े मैंने दिये पहने और प्रसन्न रहे। हम उन्हें सब प्रकार का गरमी और उत्तेजना देने वाला भोजन देते रहते हैं। हमारा अन्धा प्रेम उनकी योग्यता और आवश्यकता का ध्यान नहीं रखता। उसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि यौवन शीघ्र आरम्भ हो जाता है, सन्तानोत्पत्ति शीघ्र ही होने लगती है और मृत्यु की ओर भी शीघ्र ही प्रस्थान करना पड़ता है। उनके सम्मुख माता पिता अपना एक जीता-जागता दृष्टान्त उपस्थित करते हैं जिससे बच्चे सब कुछ अनायास ही सीख लेते हैं। वे बिना विवेक के विषय-भोग में मस्त रहते हैं। इसी कारण से उनके बच्चों पर उनके बुरे चाल-चलन का सदा प्रभाव पड़ता है। सदा ही परिवार में असामयिक सन्तान-वृद्धि की प्रसन्नता, बधाइयों बाजे-गाजों और दावतों से की जाती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हम अपने चारों ओर के दृश्य को देखते हुए भी अपने आप को उतना वश में नहीं रख रहे हैं; जितना रखना चाहिये। मुझे इस बात में नाम मात्र को भी सन्देह नहीं है कि यदि विवाहित लोग अपने देश का भला चाहते हैं और यदि वे भारत को एक बलवान, हृष्ट पुष्ट और सुडौल पुरुषों और स्त्रियों वाला राष्ट्र बनाना चाहते हैं, तो उन्हें दृढ़ता से आत्म-संयम का पालन करना पड़ेगा और इस समय सन्तान-वृद्धि को भी बन्द रखना पड़ेगा। जिन्होंने अभी नया ही विवाह किया है उन्हें भी मैं यही सम्मति देता हूँ। किसी कार्य को सर्वथा ही नहीं करना अधिक सरल

होता है, अपेक्षा करते हुए उसे छोड़ने के। सारे जीवन जिसने सुरा-पान नहीं किया है उसके लिये शराब का नहीं पीना अधिक सरल है, अपेक्षा एक शराबी या एक ऐसे मनुष्य के जो कि प्रायः या थोड़ी बहुत शराब पीता रहता है। सीधा खड़ा रहना गिर कर उठने की अपेक्षा अधिक सरल है। यह कहना ठीक नहीं है कि संयम की शिक्षा भोग से सन्तुष्ट हुए मनुष्य को ही सुगमता से दी जा सकती है। एक निर्बल हो चुके मनुष्य को तो संयम के उपदेश देने का कुछ अर्थ ही नहीं। मेरे कहने का तात्पर्य तो यह है कि चाहे हम युवा हों या वृद्ध, भुक्तभोग हों या न हों, वर्तमान समय में हमारा यह कर्तव्य है कि हम सन्तान-वृद्धि करना बन्द कर दें जिससे हमारी दासता के कोई उत्तराधिकारी न रह सकें।

क्या मैं माता-पिताओं को यह बात बता दूं कि विवाह करने की आवश्यकता नहीं है। स्वीकृति पाने की आवश्यकता किसी वस्तु के ग्रहण के लिये रहती है उससे पृथक् रहने के लिये नहीं। यह एक निर्विवाद और प्रत्यक्ष सत्य है। जब कि हम एक शक्ति-सम्पन्न शासन के घातक पँजे में फँसे हुए हैं हमें सभी प्रकार की शक्ति की आवश्यकता है जैसे शारीरिक, भौतिक, सैनिक और आत्मिक। हम तब तक उस शक्ति को नहीं प्राप्त कर सकते जब तक हम उस एक पदार्थ को न पाले जिसे हम सब से अधिक मूल्यवान् मानते हैं। वैयक्तिक जीवन की पवित्रता के बिना तो हमें दासों का राष्ट्र ही बन कर रहना पड़ेगा। ऐसा विचार करके हमें अपने आप को धोखा नहीं देना चाहिये कि क्योंकि अंगरेजी शासन की पद्धति जो हम पर लागू है वह बुरी है, इसलिये हम अंगरेजों के वैयक्तिक गुणों को भी बुरा समझ बैठें। वे लोग कम से कम विशेष गुणों का प्रदर्शन किये बिना ही उन्हें बड़ी सीमा तक अपने आचरण में लाने का अभ्यास अवश्य करते हैं। देश के

राजनीतिक क्षेत्र में उतरे हुए अंगरेज हम लोगों की अपेक्षा अधिक प्रमाण में पवित्र जीवन वाले और अविवाहित हैं। हम में अविवाहित स्त्रियां तो लगभग नहीं के बराबर हैं। कुछ अविवाहित साधुनियां अवश्य हैं, जिनका देश के राजनीतिक जीवन से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यूरोप में तो हजारों व्यक्ति अविवाहित ही रहते हैं और उन्हें इस विशेषता के लिये गौरव भी है।

मैं पाठकों के समक्ष कुछ साधारण नियम रखता हूँ जो न केवल मेरे ही परन्तु मेरे कई साथियों के अनुभव में आ चुके हैं :—

(१) बच्चों का पालन पोषण सरल और प्राकृतिक ढंग पर होना चाहिये। ऐसा पूरा विश्वास रखना चाहिये कि वे निर्दोष हैं और आगे भी वैसे ही निर्दोष रह सकते हैं।

(२) गरम और उत्तजक भोजन से उन्हें बचाना चाहिये। गरम-मसाला, मिर्च, चरबी बढ़ाने वाले और गरिष्ठ भोजन जैसे मिठाई और तली हुई वस्तुएं उन्हें नहीं देनी चाहिये।

(३) पुरुष और स्त्री पृथक पृथक कमरों में सोया करें। एकान्त में रहना छोड़ दें।

(४) मन और शरीर को सदा पवित्र विचारों में ही रखें।

(५) जल्दी सोने और जल्दी उठने के नियम का पालन ध्यान से करते रहें।

(६) अश्लील पुस्तकों से दूर रहें। पवित्र विचारों द्वारा नीच विचारों को नष्ट किया जा सकता है।

(७) नाटक, सिनेमा आदि जो काम-वासना को बढ़ाते हैं उनसे दूर रहें।

(८) स्वप्न में अगर वीर्य गिर जाय तो उससे घबरायें नहीं। ऐसे अवसरों पर अच्छा तो यह है कि यदि उस व्यक्ति का स्वास्थ्य

सामान्यतया ठीक है तो ठंडे पानी से नहा लेना चाहिये। वे इस भ्रान्त प्रचार को न मान बैठें कि शारीरिक कामना को ऐसे अवसरों पर पूर्ण कर लेने से यह बुराई दूर हो जाती।

(९) सब से मुख्य बात तो यह है कि सभी लोग इस बात को अपने मन से हटा दें कि पति और पत्नी का पृथक रहना भी इतना कठिन है कि उसे असम्भव मान लिया जाय।

(१०) पवित्रता के लिये प्रति दिन शुद्ध हृदय से की हुई प्रार्थना धीर धीरे मनुष्य को पवित्र बना देती है।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर १३, १९२० ई०

पवित्रता

ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल मशीन की तरह शरीर को शुद्ध रखना ही नहीं है, उसका अर्थ है समस्त इन्द्रियों को संयम में रखना और मन वचन और कर्म द्वारा काम-वासना से पृथक रहना। इस प्रकार रहना ही मनुष्य के लिए वह राज-मार्ग है जिस पर चलता हुआ वह आत्म-ज्ञान या ब्रह्म को पा सकता है। आदर्श ब्रह्मचारी को भोग-वासना से द्वन्द्व करना नहीं पड़ता। वह उसे कभी कष्ट नहीं पहुंचाती। उसके लिये सारा जगत् एक बड़े परिवार के समान है। उसकी सब महत्वाकांक्षायें केवल एक बात को ही पूर्ण करने में लग जाती हैं कि वह मनुष्य जाति के कष्टों को मिटाये। ऐसे विचारों के सम्मुख भोगविषयक विचार उसे दुःखदायी प्रतीत करने होते हैं। जिसने मानवता के दुःख-दर्दों की व्यापकता का अनुभव कर लिया है, उसे काम-वासना नहीं सता सकती। वह स्वभावतः ही शक्ति की उस धारा को पहिचान लेगा जो सदा ही उस के अन्दर वह रही है और बड़ी सावधानी से उसे सुरक्षित रखेगा।

उसकी वह शक्ति उसे संसार में विजय दिलाएगी। लोगों पर उसका प्रभाव किसी भी सम्राट से अधिक होगा।

लोग मुझे कहते हैं कि यह एक अक्रियात्मक आदर्श है, किन्तु मैं पुरुष और स्त्री के पारस्परिक आकर्षण को कोई विशेष महत्व नहीं देता। मैं इस बात को मानने के लिये उद्यत नहीं हूँ कि स्त्री और पुरुष का भोग के लिए मिलना एक स्वाभाविक बात है। ऐसा होता तो हम पर एक दम प्रलय आ जाता। जो स्वाभाविक खिंचाव पुरुष और स्त्री में हो सकता है उसका स्वरूप आपको भाई और बहन, माँ और बेटे, और बाप और बेटी के प्रेम में मिल सकता है। यही स्वाभाविक आकर्षण संसार को टिकाये हुए है। मेरे लिए जीवित रहना असम्भव हो जाता, कोई कार्य करना तो दूर की वस्तु है—यदि मैं सारी स्त्री जाति को बहिनों, बेटियों और माताओं की भांति न देखता तो मैं अवश्य नरक-गामी होता।

सन्तान उत्पन्न करना निःसन्देह एक स्वाभाविक बात है परन्तु नियत सीमा में रहकर। उस सीमा से आगे बढ़ जाने से स्त्री जाति संकट में पड़ जाती है। सारी जाति शक्तिहीन हो जाती है, रोग उत्पन्न होते हैं, बुराइयाँ बढ़ती हैं और संसार से अच्छाइयाँ लुप्त होने लगती हैं। शारीरिक वासनाओं वाले मनुष्य की दशा उस जल-यान के सदृश है जो किनारे पर बिना लंगर के खड़ा है। यदि ऐसा मनुष्य किसी समाज को राह दिखाये, उसमें अपने साहित्य का प्रचार करे और वह समाज उस के विचारों के अनुसार कार्य करने लगे तो उस समाज की क्या स्थिति होगी? और हम देखते हैं कि वही बात आज हो रही है। कल्पना कीजिए एक पतंगा प्रकाश के चारों ओर चक्कर काट रहा है और इस क्षणिक प्रसन्नता में उसे अपने संकट का कुछ भी भान नहीं है, यदि हम उसका ही अनुकरण करें; उसको एक आदर्श मान लें तो हमारी क्या दशा होगी? नहीं, मुझे अपनी पूर्ण शक्ति से यह घोषित कर देना होगा

कि यदि पति और पत्नी में भी जो प्रेम है, वह काम-वासना के लिये है तो प्रकृति के विरुद्ध है। विवाह का उद्देश है स्त्री और पुरुष के मन से अपवित्र विचारों को निकाल देना और उन्हें ईश्वर के समीप पहुँचाना। स्त्री और पुरुष में निर्दोष प्रेम का होना असम्भव नहीं है। मनुष्य एक पशु नहीं है। पशुरूप में बार बार जन्म लेने के पश्चात् वह एक ऊंची स्थिति में उत्पन्न हुआ है। वह खड़ा होने को पैदा हुआ है न कि चौपायों की तरह चलने या पेट के बल रेंगने को। मनुष्यता और पशुता में इतना अन्तर है जितना प्रकृति और आत्मा में है। अन्त में मैं उन साधनों का वर्णन करूँगा जिनकी सहायता से ब्रह्मचर्य सिद्ध हो सकता है।

पहली बात तो यह है कि इसकी आवश्यकता को समझना। दूसरी बात इन्द्रियों पर क्रमशः संयम करना। ब्रह्मचारी को अपनी रसना पर संयम करना पड़ेगा। उसे प्राण धारण के लिये खाना पड़ेगा—स्वाद के लिये नहीं। उसे पवित्र पदार्थों को ही देखना होगा। अपवित्र पदार्थों पर से उसे अपनी दृष्टि हटा लेनी पड़ेगी। इस लिये नीचे दृष्टि करके चलना भले आदमी का काम है न कि प्रत्येक वस्तु पर ताकते हुए चलना। ब्रह्मचारी किन्हीं भी गन्दी और अश्लील बातों को नहीं सुनेगा। वह उग्रगन्ध वाले और उत्तेजक पदार्थों को नहीं सूंघेगा। शुद्ध भूमि की सुगन्ध किसी कृत्रिम सुगन्ध या इत्र के गन्ध से कहीं मीठी है। ब्रह्मचर्य के पुजारी को अपने हाथों और पैरों को जागृत् अवस्था में सदा भले कामों में लगा रखना चाहिये। उसे कभी कभी उपवास भी करना चाहिये।

तीसरी सीढ़ी है सदाचारी साथियों में रहने की। मित्र भी भले हों और पुस्तकें भी अच्छी हों। अन्तिम किन्तु महत्व में सब से अधिक आवश्यक है प्रार्थना। नित्य नियमसे प्रतिदिन शुद्ध हृदय से 'राम नाम' का जाप करना चाहिए और ईश्वरीय शक्ति की याचना करनी चाहिये।

किसी भी स्त्री या पुरुष के लिये इन बातों में एक भी बात ऐसी नहीं है जो कठिन कही जा सकती हो। वे तो सीधी-सादी बातें हैं। किन्तु उन की सरलता ही घबरा देने वाली है। जहाँ इच्छा है वहाँ मार्ग बहुत सरल है। मनुष्यों में ब्रह्मचर्य के लिये इच्छा नहीं है और इसीलिये वे व्यर्थ टक्करें खाते हैं। सच तो यह है कि संसार थोड़े या बहुत अंश तक ब्रह्मचर्य या आत्म-विजय की शक्ति पर ही टिका हुआ है—इसका अर्थ है कि ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है और उसका पालन क्रियात्मक है।

—यंग इण्डियाः जून २७, १९२८ ई०

साहस मत छोड़ो

ब्रह्मचर्य के लिये जो बात सहायता ली जाने की है उसमें जितनी आवश्यकता भोजन के चुनाव और संयम की है उतनी ही महत्ता उपवास की भी है।

इन्द्रियां इतनी उच्छृङ्खल हैं कि उनको वश में रखने के लिये उन्हें सभी ओर से सीमा में ही रखना अनिवार्य है—ऊपर से और नीचे से उन्हें अपने क्षेत्र में रखना आवश्यक है। यह तो सभी जानते हैं कि बिना भोजन के वे दुर्बल हो जाती हैं। इसलिये इन्द्रियों को वश में करने के उद्देश्य से जो उपवास लिये जाते हैं वे मेरे विचार से बहुत सहायक होते हैं। कुछ लोगों को उपवास से कुछ लाभ नहीं होता, क्योंकि जो लोग मशीन की भांति उपवास कर के ही लाभ उठाना चाहते हैं वे खाते-पीते तो नहीं हैं किन्तु वे अपने मन से सभी भोग-विलास की वस्तुओं का मजा लेते रहते हैं; सदा उन्हीं पदार्थों का विचार करते रहते हैं, जिन्हें वे उपवास समाप्त होने पर खाना और पीना चाहते हैं। इस प्रकार के उपवास से न तो वे अपनी जीभ पर और न

अपनी कामवासना पर ही संयम कर सकते हैं। उपवास तभी सफल हो सकता है जब मन भी भूखे शरीर का साथ दे। इसका तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थों को शरीर छोड़ देता है, उन्हें मन भी छोड़ दे। सभी प्रकार के भोगों की जड़ मन है। इसलिये उपवास का लाभ परिमित है; क्योंकि उपवासी मनुष्य भी भोग के पंजे में फंसा रह सकता है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भोग की इच्छा की समाप्ति बिना उपवास के असम्भव है। यह एक निश्चित नियम है और ब्रह्मचर्य के पालन के लिये उपवास करना अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य के बहुत से साधक इसलिये असफल होते हैं क्यों कि वे अपनी अन्य इन्द्रियों को अ-ब्रह्मचारियों की भांति काम में लेते हैं। वे तो मानों झुलसाने वाली गरमी की ऋतु में भी ठिठुराने वाली शीत-ऋतु का उपभोग चाहते हैं। एक ब्रह्मचारी की और एक अब्रह्मचारी की दिनचर्या में जो भेद है वह स्पष्ट प्रकट होना ही चाहिये। उन दोनों में जो समानता है, वह केवल दिखावटी है। उनका भेद सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट दीखना चाहिये। दोनों अपनी आँखों को काम में लाते हैं; किन्तु जहाँ ब्रह्मचारी उनके द्वारा ईश्वर की महत्ता को देखता है वहां अब्रह्मचारी संसार की चपलता की ओर ताकता रहता है। दोनों अपने कानों को काम में लाते हैं; किन्तु उनमें से एक जहाँ ईश्वर की स्तुति के अतिरिक्त कुछ नहीं सुनता वहां दूसरा अपशब्दों और बुरी बातों को सुनता है। दोनों अपने भीतर की आत्मा को भोजन देते हैं; किन्तु एक तो ईश्वर के मन्दिर को सुधारने में लगा रहता है और दूसरा अपने आपको बिगाड़ने में जुटा रहता है; उस पवित्र पात्र को एक गन्दी नाली के समान बनाता है। इस प्रकार वे दोनों उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों की भांति एक दूसरे से दूर हैं। जैसे जैसे समय बीतता जाता है उनका परस्पर का अन्तर बढ़ता ही जाता है—वह कभी घटने वाल नहीं है।

मन, वचन और कर्म से इन्द्रियों पर संयम रखना ब्रह्मचर्य कहलाता है। प्रति दिन मुझे ऊपर बतलाये हुए नियमों को अधिक दृढ़ता से पालने की आवश्यकता प्रतीत होती है। त्याग की कोई सीमा बांधी नहीं जा सकती है। वही बात ब्रह्मचर्य के लिये भी कही जा सकती है। ऐसा ब्रह्मचर्य किसी एक दशी प्रयत्न से प्राप्त करना असम्भव है। बहुतों के लिये तो यह अगम्य आदर्श ही रह जाता है। ब्रह्मचर्य का साधक सदा ही अपनी त्रुटिओं की ओर दृष्टि दौड़ाता रहता है। वह सदा ही इस बात की छान-बीन में लगा रहता है कि कहीं कोई छिपी हुई काम-वासना तो हृदय में नहीं है; और वह निरन्तर उनसे छुटकारा पाने का प्रयास करता है। जब तक मन पूर्णतया वश में नहीं आ जाता, तब तक पूरा ब्रह्मचर्य असम्भव है। निरङ्कुश विचार का मोह है और इसलिये विचार को मैं वश करने का अर्थ होता है मन को जीतना, जो कि वायु को दबाने से भी अधिक कठिन है। फिर भी हमारे हृदय में व्याप्त रहने वाला ईश्वर मन को वश में कर लेना सम्भव बना सकता है। क्यों कि यह कठिन है इस लिये कोई यह न मान बैठे कि यह असम्भव है। यह सब से ऊंची बात है और इसलिये सब से ऊंची बात को पाने के लिये सब से ऊंचे प्रयत्न की आवश्यकता है।

किन्तु हिन्दुस्थान में आने के पश्चात् मुझे अच्छी प्रकार ज्ञात हो गया कि इस प्रकार का ब्रह्मचर्य केवल मनुष्य के प्रयत्नों से प्राप्त करना असम्भव है। उस से पूर्व मैं इस भ्रम में रह कर ही प्रयत्न कर रहा था कि समस्त वासनाओं को निर्मूल करने के लिये केवल फलों का आहार ही पर्याप्त होगा। और मैं यह मान कर फूला नहीं समाता था कि अब मुझे कुछ भी करना शेष नहीं रहा है।

मैं यह बता देना चाहता हूँ कि जो लोग ईश्वर को पाने के लिये ब्रह्मचर्य के पालन का प्रयत्न करते हैं उन्हें निराश नहीं होना चाहिये;

किन्तु शर्त यह है कि उनके हृदय में जितना उत्साह ब्रह्मचर्य को पाने के लिए है उतना ही विश्वास ईश्वर के लिए भी होना चाहिये।

एक त्यागी मनुष्य की आत्मा से इन्द्रियों की वासनाएँ दूर हो जाती हैं; उस को उन वासनाओं का कोई आकर्षण ही नहीं रहता है। ईश्वर-दर्शन के पश्चात् किसी अन्य वस्तु में सुख ही नहीं मिलता है। इस लिये एक साधक को मोक्ष के पश्चात् केवल ईश्वर के नाम और ईश्वर के गुणों का ही ध्यान रहता है। यह सचाई मुझे भारत लौटने पर मिली है।

—'मेरे सत्य के प्रयोग' से।

अध्याय आठवां

व्यक्तिगत पवित्रता नैतिक नेतृत्व का कारण बनती है

एक कांग्रेस के नेता ने मुझे एक दिन बातचीत करते हुए कहा था :

"क्या कारण है कि गुणों की दृष्टि से कांग्रेस जैसी सन १९२०-२५ में थी वैसी अब न रही? इसका तो बिगाड़ होता जा रहा है। नब्बे प्रति शत सदस्य कांग्रेस के अनुशासन का पालन नहीं कर रहे हैं। क्या आप इस स्थिति को सुधारने के लिये कुछ नहीं कर सकते हैं?"

यह प्रश्न उचित और सामयिक है। मैं यह कह कर अपनी उत्तर-दायिता को नहीं टाल सकता कि मैं तो अब कांग्रेस में हूँ ही नहीं। मैं इस से बाहर इस लिये हुआ हूँ कि मैं इसकी सेवा और भी अच्छे ढंग से कर सकूं। मैं जानता हूँ कि मेरा अब भी कांग्रेस की नीति पर प्रभाव होता है। मैं मानता हूँ कि सन १९२० के कांग्रेस के विधान के निर्माता के नाते इस प्रकार के बिगाड़ का,—जो कि दूर किया जा सकता है—उत्तरदायित्व मुझ पर आता है।

सन १९२० ई० में कांग्रेस ने एक मौलिक विघ्न को अनुभव किया। बहुत थोड़े लोगों ने सचाई और अहिंसा को अपना सिद्धान्त माना। कुछ एक ने इसे नीति के रूप में स्वीकार किया। यही एक अनिवार्य बात थी। मुझे यह आशा थी कि इस नई पॉलिसी (नीति) में कांग्रेस को काम करते हुए देख कर बहुत से सदस्य उसे अपने सिद्धान्त रूप में मान लेंगे केवल कुछ ही लोगों ने वैसा किया अधिक ने नहीं। आरम्भ में मुख्य

नेताओं पर इसने बहुत अच्छा प्रभावशाली परिवर्तन किया। पाठकों को स्वर्गीय पं० मोती लाल नेहरू और स्व० देशबन्धुदास के पत्रों का स्मरण करवाता हूँ जो 'यंग इण्डिया' में छप चुके हैं। उन्होंने आत्म-संयम, सरलता और त्याग के जीवन में एक नई प्रसन्नता और आशा का अनुभव किया। अली-बन्धु तो प्राय फकीर ही बन चुके थे। एक स्थान से दूसरी जगह जब हम यात्रा पर निकलते थे तो जो परिवर्तन उन बन्धुओं में हो रहा था उसको मैं प्रसन्नता के साथ ध्यान से देखता था। जो बात इन चार नेताओं के लिये सही थी वही बहुत से अन्यों के लिये भी सही थी और जिनका नाम मैं बतला सकता हूँ। इन नेताओं के उत्साह ने जनता के हृदयों पर भी ऐसा ही प्रभाव उत्पन्न कर दिया था।

किन्तु इस प्रकार के चमत्कारिक परिवर्तन का कारण था एक वष में ही स्वराज्य पाना। सूत्र को क्रिया में लाने के लिये जिन शर्तों को मैंने प्रकट किया था उन्हें लोग भूल चुके थे। ख्वाजा साहेब अब्दुलमजीद ने तो यहाँ तक सुझाया कि सत्याग्रही सेना के प्रमुख के लिये जो कि काँग्रेस बन चुकी थी और अब भी है (केवल यदि काँग्रेसी लोग सत्याग्रह का अर्थ समझ लें तो), मैं विश्वास दिलाता हूँ कि वे शर्त ऐसी हैं जो पूरी की जा सकती हैं। शायद उनका कहना ठीक था। केवल मुझ में ऐसे साधन नहीं थे। एक व्यापक रूप में और राजनीतिक समस्याओं को हल करने के लिये अहिंसा को काम में लेना मेरे लिये भी परीक्षण का विषय ही था। इसलिये मैं उसे सिद्धान्त के स्वरूप में उपस्थित नहीं कर सका। मेरी शर्तों का तात्पर्य था सामान्य जनता से सहायता पाना—चाहे फिर वे पूर्ण हों या न हों। भूल और भ्रान्त अनुमान सदा हो सकते हैं—चाहे किसी भी कारण से हुए हों। स्वराज्य की लड़ाई लम्बी खिच गई; खिलाफत का कार्य शिथिल पड़

गया; उत्साह कम हो गया; अहिंसा में उसे नीति मान कर भी भरोसा कम हो गया और झूठ का बोल-बाला हो गया। जिन लोगों का सत्य और अहिंसा या खादी में विश्वास नहीं था वे पृथक हो गए और बहुतों ने तो कांग्रेस के विधान का भी विरोध किया।

बुराई बढ़ती ही चली। 'कार्य कारिणी' कांग्रेस की इस बुराई को मिटाने का प्रयत्न कर रही थी; किन्तु सदस्यों की संख्या कम न हो जाय इस बात को विचार में रख कर उसने इस ओर प्रबल पग नहीं उठाया। मैं स्वयं तो संख्या की अपेक्षा दृढ़ता पर भरोसा रखता हूँ।

किन्तु अहिंसा की योजना में दबाव नहीं होना चाहिये। मन और हृदय तक पहुँचने के लिये योग्यता पर भरोसा रखा जाता है—इन में भी मन की अपेक्षा हृदय पर अधिक भरोसा रखा जाता है।

इसका यह तात्पर्य निकलता है कि सत्याग्रह के नेता के शब्दों में शक्ति होनी चाहिये—वह शक्ति नहीं जो सैनिक के शस्त्रास्त्रों में है—परन्तु वह शक्ति जो जीवन की पवित्रता, निपुण सावधानी और निरन्तर तत्परता से प्राप्त होती है। वह ब्रह्मचर्य के पालन के बिना सम्भव नहीं है। एक मनुष्य के लिये जहां तक सम्भव हो उसका पालन किया जाना चाहिये। ब्रह्मचर्य का यहाँ अपने आपको वश में रखने तक का ही अर्थ नहीं है। इसका बहुत विस्तृत अर्थ है। इसका अर्थ है सभी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार। इसलिये एक अपवित्र विचार ब्रह्मचर्य को तोड़ता है, उसी तरह क्रोध भी। संसार के निर्माण की शक्ति को सुरक्षित रखने और बढ़ाने से ही सब प्रकार का बल प्राप्त होता है—यदि जीवन-शक्ति नष्ट करने के स्थान पर बचाई जाय तो एक निर्माण के लिए विशाल बल-भण्डार बन सकता है। यह शक्ति निरन्तर अज्ञान में गन्दे और असंयत विचारों के कारण विनष्ट हो जाती है। क्योंकि विचार ही सब

ाणी और कार्य की जड़ है, इसलिये जैसे विचार होंगे, वैसी ही बोली
ग्रौर वैसे ही कार्य भी होंगे। इसलिये संयत मन के विचार एक बड़ी
भावशाली शक्ति है और उनके द्वारा आप से आप उत्तम कार्य होता
ै। हृदय की शान्त प्रार्थना का अर्थ मैं तो यही मानता हूँ। यदि मनुष्य
ईश्वर के स्वरूप देखने के पीछे पड़ा है तो उसे एक सीमित क्षेत्र में ही,
ो उसके सम्मुख है, उसकी कल्पना करनी पड़ेगी और उसे सफलता
मेलेगी। इस प्रकार की सफलता उस मनुष्य को कभी प्राप्त नहीं हो
सकती जो अपनी शक्ति को व्यर्थ ही नष्ट कर देता है। आप जानते ही
ैं कि यदि वाष्प फूटी नली में बन्द रखी जाय तो वह बलयुक्त नहीं रह
सकती। भोग—जो सन्तानोत्पादन के अतिरिक्त किया जाता है, एक बड़े
ग्रौर भारी विनाश का कारण है और इसीलिये उसका विरोध करना
एक महत्त्व की बात है। किन्तु एक मनुष्य जिसको अहिंसा के ढंग पर
एक बड़ी भारी जनता का संगठन करना है, उसे मेरे बताने के अनुसार
पूर्णतया अपने-आपको संयम में रखने का प्रयत्न करना होगा और उसमें
सावधानी से सफलता को प्राप्त करना होगा। इस प्रकार अपने ऊपर
पूर्ण प्रभुत्व ईश्वर की कृपा के बिना पाना सम्भव नहीं। गीता के दूसरे
अध्याय में एक श्लोक है जिस का अनुवाद इस तरह किया जा सकता
है:—"उपवास किया जाता है। या किसी इन्द्रिय विशेष का कार्य रोक
दिया जाता है तो उससे विषय वासना निवृत्त हो जाती है; किन्तु जब
तक ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक इन्द्रियों को जिन विषय-
वासनाओं का रस लगा हुआ है वह नहीं छूट सकता।" इस प्रकार का
संयम बनावटी और क्षीण नहीं होता। एक बार प्राप्त कर लेने पर सदा
बना रहता है। वैसी स्थिति में जीवनी-शक्ति बची हुई रहती है—और
विभिन्न स्रोतों द्वारा विनष्ट नहीं होती है। लोगों की धारणा है कि इस
प्रकार का ब्रह्मचर्य यदि क्रियात्मक है तो केवल गुफाओं में रहने वालों
के लिये ही। उनका कहना है कि ब्रह्मचारी को न तो किसी स्त्री को

देखना चाहिये और न छूना ही चाहिये। निःसन्देह एक ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है कि वह कभी किसी स्त्री के विषय में बुरी भावना से न तो विचार करे और न बातचीत ही करे; ऐसे विचारों से ही न तो उसे देखे और न छूए। किन्तु ब्रह्मचर्य के लिये जो पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें जो प्रतिबन्ध बताये गये हैं, वह बिना किसी क्रिया-विशेषण के हैं। इस प्रकार के वर्णन का कारण यह प्रतीत होता है कि मनुष्य ऐसे विषयों में एक पक्षपातशून्य निर्णायक नहीं रह सकता; और इसीलिये वह यह नहीं कह सकता है कि कब ऐसे सम्पर्क का उस पर प्रभाव होगा और कब नहीं होगा। प्रायः अनजान में ही कामदेव अपना आक्रमण कर देता है। जब मनुष्य स्वतन्त्रता से संसार से मिलता है तो ब्रह्मचर्य का पालन करना निःसन्देह कठिन होता है। परन्तु यदि संसार से पृथक् रह कर ही उसका पालन किया जाना सम्भव है तो ऐसे ब्रह्मचर्य को कोई विशेष महत्ता भी नहीं है।

कुछ भी हो, मैं तो लोगों के साथ कार्य-क्षेत्र में रह कर ही पिछले तीस वर्षों से सफलता के साथ ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा हूँ। अपनी पत्नी के प्रति व्यवहार के अतिरिक्त मेरे बाहरी रहन-सहन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया। दक्षिण अफ्रिका में भारतीयों के साथ कार्य करते हुए, मैं स्वतन्त्रता के साथ स्त्रियों से मिलता रहा। ट्रान्सवाल और नेटाल में शायद ही कोई ऐसी हिन्दुस्तानी स्त्री होगी जिसको मैं नहीं जानता हूँ। उन सभी को मैंने अपनी बहिनों और बेटियों की तरह देखा है। मैंने ब्रह्मचर्य की शिक्षा पुस्तकों से नहीं पाई है। मैंने मार्ग-दर्शन के लिये अपने नियम बनाए थे और उनमें उन लोगों की भी सहायता मिली है, जो मेरे इस प्रयोग में मेरे निमन्त्रण को पाकर सम्मिलित हुए थे। ग्रन्थों में लिखे अनुसार स्तम्भन के उपायों का मैंने अवलम्बन नहीं किया है और न मैंने धार्मिक पुस्तकों में लिखे के अनुसार इस वर्णन को स्वीकार किया है कि स्त्री ही प्रलोभन और

मोह का मूल है। मुझ में यदि कोई अच्छाई है, तो उसका श्रेय मेरी माता को मिलना चाहिये। मैंने स्त्रियों को कभी बुरी दृष्टि से नहीं देखा। मैं जिस श्रद्धा से अपनी माँ को देखता था उसी श्रद्धा से मैं सारी स्त्री जाति को देखता हूँ। मनुष्य ही प्रलोभन में खींचने वाला और आक्रमण करने वाला है। स्त्री का स्पर्श पुरुष को नहीं बिगाड़ता परन्तु प्रायः मनुष्य इतना अपवित्र होता है कि उसे छूता है। किन्तु अभी ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी को अपनी प्रतिकूल जाति से मिलने के सम्बन्ध में जिस प्रकार के प्रतिबन्ध बनाये गये हैं, उनमें मुझे सन्देह उत्पन्न हुआ है। मैंने जो प्रतिबन्ध नियत किये हैं उनसे मुझे सन्तोष नहीं है। वह किस प्रकार के होने चाहिये, यह मैं नहीं जानता। मैं प्रयोग कर रहा हूँ। अपनी परिभाषा के अनुसार मैं एक पूर्ण ब्रह्मचारी होने का दावा कभी नहीं करता हूँ। मैं अपने विचारों पर उतना अधिकार नहीं कर पाया हूँ, जितना कि मुझे अपनी अहिंसा की खोजों में आवश्यक है। यदि मैं चाहता हूँ कि अहिंसा मेरे सम्पर्क में आने वालों पर प्रभाव डाले तो मुझे अपने विचारों पर अधिक संयम करने की आवश्यकता है। इस लेख के आरम्भ में जो बातें लिखी गई हैं, उनके अनुसार शायद कुछ त्रुटियां हैं, जिनके कारण से नेतृत्व में प्रतीत होने वाली असफलता प्राप्त हो रही है।

मेरा विश्वास अहिंसा में उतना ही है, जितना कि चाहिये। मुझे पूर्ण भरोसा है कि यह न केवल हिन्दुस्थान की आवश्यकताओं को ही पूर्ण कर सकेगी परन्तु यदि उसका ठीक ढंग से उपयोग हुआ तो वह हिन्दुस्थान के बाहर भी रक्तपात को, जिसकी धमकी पश्चिमीय जगत् को नष्ट करने के लिये दी जा चुकी है, रोक सकती है।

मेरी आकांक्षा की एक सीमा है। ईश्वर ने मुझे वह शक्ति नहीं दी है जिसके सहारे मैं सम्पूर्ण संसार को अहिंसा के मार्ग पर चलना

सिखा सकूँ। किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उसने हिन्दुस्थान में अहिंसा के फैलाव के लिये, जिसके द्वारा इस देश की बहुत सी बुराइयां दूर की जा सकती हैं, मुझे निमित्त चुना है। अभी तक जो उन्नति हुई है वह बहुत बड़ी है किन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है। और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने वह शक्ति खो दी है जिसके बल पर मैं सभी कांग्रेसियों में अहिंसा के लिए उत्साह उत्पन्न कर सकूँ। जो बढ़ई अपने हथियारों से ही लड़ता रहता है, वह अयोग्य है। जो सेना का नायक अपने सैनिकों पर ही उलटे मार्ग पर चलने का दोष मढ़ता है, वह अयोग्य है। मैं जानता हूँ कि मैं एक बुरा सेनानी नहीं हूँ। मुझ में अपने सामर्थ्य की सीमा को पहिचानने की बुद्धि है। यदि मेरे भाग्य में ऐसा ही है तो ईश्वर मुझे अपने दिवालियेपन को प्रकट करने के लिये पूर्ण शक्ति दे देगा। यदि उस कार्य के लिये मेरी सेवा की आवश्यकता नहीं है तो शायद वह मुझे उस काम से पृथक कर देगा, जिसको करने के लिये उसने मुझे प्रायः पिछले पचास वर्ष का अवसर दिया है। किन्तु मुझे तो आशा है कि मेरे लिये अभी काम शेष है। मेरे सम्मुख जो अँधेरा छाया हुआ है वह दूर हो जायगा। शायद एक दूसरा युद्ध, जो डांडी यात्रा से भी उग्रतर होगा, या बिना युद्ध के ही, हिन्दुस्थान अहिंसा के द्वारा अपना शासन प्राप्त करेगा मैं उस प्रकाश को पाने के लिये प्रार्थना करता हूँ जिससे यह अँधेरा दूर किया जा सकता है। जिन लोगों का अहिंसा में पक्का भरोसा है, वे इस प्रकार की प्रार्थना करने के लिये मेरे साथ हो जायं।

—हरिजन : जुलाई २३, १९३८ ई०

संयम से कभी किसी का स्वास्थ्य नष्ट नहीं होता। स्वास्थ्य जो बिगड़ता है वह संयम से नहीं परन्तु बाह्य दबाव से। एक सच्चा संयमी

दिनों दिन अपनी शक्ति को और अपनी शान्ति को बढ़ती हुई पाता है। आत्म-संयम के लिये सब से पहला पग विचारों को वश में रखने का है।

—हरिजन : अप्रैल २४, १९३७ ई०

पूछने वालों से जो पत्र मुझे निरन्तर मिले हैं, उनको पढ़कर मैं एक सावधानी की सूचना देना चाहता हूँ। जो लोग आत्म-संयम में भरोसा रखते हैं, उन्हें निराश नहीं होना चाहिये। जो पत्र मुझे मिले हैं, उनसे प्रतीत होता है कि बहुत से लेखकों को आत्म-संयम के अभ्यास में सफलता नहीं मिलने के कारण सन्देह हो रहा है। प्रत्येक अच्छी वस्तु की तरह, आत्म-संयम के लिये भी बड़े धैर्य की अपेक्षा है। निराशा का कोई कारण ही नहीं है; और किसी प्रकार का सन्देह होना ही नहीं चाहिये। बुरे विचारों को भगाने के लिये किसी असाधारण प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। वह उपाय ही एक तरह का ईश्वरी वरदान है।

सब से बढ़िया नुस्खा शायद यह है कि प्रतिरोध नहीं किया जाय अर्थात् यह कि बुरे विचारों की विद्यमानता की ओर दृष्टिपात न करना। निरन्तर अपनी कर्तव्य पूर्ति में ही तत्पर रहना चाहिये। वैसा करने से एक ऐसी सेवा की भावना उत्पन्न हो जाती है जिसमें मन आत्मा और शरीर का एकीकरण हो सकता है। एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि 'धर्म-हीन मन शैतान का घर है'—वह जितनी इस विषय में चरितार्थ होती है उतनी और कहीं नहीं। अगर हम सदा किसी कार्य में लगे रहें तो फिर बुरे विचार और बुरे कर्म सभी हमारे लिये असम्भव होंगे। इस लिये जो मनुष्य आत्म-संयम के नियम का पालन करना चाहता है और जिसका पालन व्यक्तिगत और सार्वजनिक उन्नति के लिये अनिवार्य है उसे अपनी शारीरिक शक्ति के अनुसार अधिक श्रम करना आवश्यक है।

—यंग इण्डिया : अगस्त ३, १९१८ ई०

जिन लोगों ने विषय-भोग के जीवन को अपने धर्म जैसा नहीं मान लिया है, परन्तु जो अपने खोये हुए आत्म-संयम को फिर पाना चाहते हैं, जो प्रायः हमारी एक स्वाभाविक दशा है, उन्हें इन पृष्ठों को पढ़ कर कुछ सहायता मिलेगी। उन्हें मार्गदर्शक के रूप में नीचे लिखी हुई शिक्षायें उपयोगी सिद्ध होंगी :—

(१) यदि आप विवाहित हैं तो स्मरण रखिए आपकी पत्नी आपकी संगिनी मित्र और सहकारिणी है। वह मैथुन के सुख का साधन नहीं है।

(२) आत्म-संयम आपकी आत्मा का नियम है। इसलिये संभोग तभी किया जा सकता है जब दोनों की इच्छा हो। उसमें भी शर्त यह है कि उन नियमों को न भूलें, जिन्हें आपने विचार पूर्वक बनाया है।

(३) यदि आप अविवाहित हैं तो अपने लिये, समाज के लिये और भविष्य के भागीदार के लिये आपको पवित्र रहना चाहिये। यदि आप इस सत्य भावना को बनाये रखेंगे तो आप अपने आपको सभी प्रकार के प्रलोभनों से बचा लेंगे।

(४) सदा उस अदृश्य शक्ति का ध्यान रखिये जिसे हम देख तो नहीं सकते हैं परन्तु अनुभव अवश्य करते हैं कि वह हमारे अन्दर है। और हमारे सभी अपवित्र विचारों को देखती है और आँकती है। आप उस शक्ति को सदा सहायक पायेंगे।

(५) आत्म-विजय के जीवन के नियम भोगमय जीवन के नियमों से सर्वथा भिन्न हैं। इसलिये आप को अपने सहवास, अपनी पढ़ाई, अपने आमोद-प्रमोद स्थान और अपना भोजन सभी को नियमित करना होगा।

आपको भले और पवित्र लोगों से सहवास करना होगा। आपको अश्लील उपन्यासों और गन्दे मासिक-पत्रों का पढ़ना बिल्कुल छोड़ना होगा। जिनसे मनुष्यता की शिक्षा मिलती है, ऐसी पुस्तकें पढ़नी पड़ेंगी।

सूचनाओं और निर्देशों के लिये आप को कोई एक पुस्तक वैसथा साथ रखनी पड़ेगी।

नाटक और सिनेमा का देखना बन्द रखना होगा। मनोविनोद के साधन ऐसे हों जिनसे शक्ति बढ़ती रहे, कम न हो। इसलिये आपको ऐसी भजन-मण्डलियों में सम्मिलित होना चाहिये, जहाँ प्रत्येक शब्द और तान आत्मा को ऊंचा उठाती है।

तुम्हें अपनी जीभ को तृप्त करने के लिये नहीं खाना चाहिये परन्तु अपनी भूख को मिटाने के लिये। एक भोग-प्रिय मनुष्य खाने के लिये जीवित रहता है, एक आत्म-संयमी जीवित रहने के लिये खाता है। आपको सभी ऐसी वस्तुएं जो रुधिर को उत्तेजित करती हैं, जैसे मिर्च-मसाले, शराब आदि छोड़ने पड़ेंगे। ऐसे पदार्थ जिनके सेवन से भले-बुरे का ज्ञान चला जाता है, उन्हें भी छोड़ना पड़ेगा। आपको अपने भोजन की मात्रा और समय निश्चित करना होगा।

(६) जब कभी बुरी वासनाएं तुम्हें सताने लगें, अपने घुटनों के बल बैठ कर ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करो। मेरे लिये तो राम-नाम एक भारी सहारा है। बाहरी सहायता के लिये कटि-स्नान कीजिए अर्थात् एक ठंडे पानी के टब में बैठ जाइये और अपने पैरों को उसके बाहर रखिये, और आपको अनुभव हो जायगा कि आपकी वासनाएं एक दम ठँडी हो चुकी हैं। उसमें कुछ देर के लिये ही बैठिये परन्तु ऐसे समय नहीं जब आप अशक्त हैं तब तो सरदी लग जाने का भय है।

(७) प्रातः काल और रात्रि में सोने से पूर्व पहले तीव्र गति से खुली वायु में कुछ टहला करो।

(८) जल्दी सोने और जल्दी उठने से मनुष्य स्वस्थ, धनी और बुद्धिमान् बन जाता है। यह कहावत बिलकुल ठीक है। रात को ९ बजे सोना और सवेरे ४ बजे उठना एक अच्छा नियम है। सोते समय पेट

खाली रहना चाहिये। इसलिये आपका अन्तिम भोजन सायंकाल के ६ बजे के पश्चात् नहीं होना चाहिये।

(६) स्मरण रखिये मनुष्य ईश्वर का प्रतिनिधि है। इसलिये उसका कर्तव्य है समस्त जीवों की सेवा करना और इस प्रकार ईश्वरीय बड़प्पन और प्रेम का प्रदर्शन करना। सेवा ही को आप अपना आनन्द समझिये। फिर आपको जीवन में किसी अन्य आनन्द की अपेक्षा अनुभव नहीं होगी।

यदि मन में मैथुन की इच्छा है और शरीर उसकी रोक करता है तो जीवन शक्ति का भारी विनाश होता है और शरीर सर्वथा थक जाता है।

—हरिजन: अप्रैल १०, १९३७ ई०

निर्बल मन के लोगों से आत्म-संयम कभी नहीं हो सकता। वह तो प्रार्थना और उपवास के रूप में सावधानी और निरन्तर प्रयत्न का एक सुन्दर परिणाम है। प्रार्थना केवल एक निष्कारण जाप नहीं है और न उपवास शरीर को व्यर्थ भूखों मारने के लिये ही है। प्रार्थना हृदय से उत्पन्न होनी चाहिये, जो ईश्वर को श्रद्धा के साथ पहिचानती है। उपवास का उद्देश्य है बुराइयों को हानि पहुँचाने वाले विचारों को और भोजन को छोड़ना। जब मन में तरह तरह के माल-ताल झाड़ने की अभिलाषा लगी हो, तो उपवास का करना बहुत बुरा है।

—हरिजन: अप्रैल १०, १९३७ ई०

शारीरिक सन्तोष के लिये सम्भोग करना पशुता है और इसीलिये मनुष्य को उससे ऊँचा उठने का प्रयत्न करना चाहिये। किन्तु पति और पत्नी का उसमें असफल रहना अपराध या निन्दा का कारण नहीं माना

जा सकता। संसार में जिह्वा के स्वाद के लिये लाखों मनुष्य खाते हैं, उसी प्रकार लाखों स्त्रियां और पति अपने शारीरिक भोग को पूर्ण करने के लिये सम्भोग करते हैं। और यह कार्य सदा ही चलता रहेगा और उसके बदले में उन लोगों को असंख्यों कष्ट भी सहन करने पड़ेगे क्यों कि प्रकृति का ऐसा ही नियम है। पूर्ण ब्रह्मचर्य और विवाहित ब्रह्मचर्य का आदर्श तो उन लोगों के लिये है जो आध्यात्मिक या ऊँचा जीवन बिताने के इच्छुक हैं। ऐसा जीवन तो एक तप है।

—हरिजन : जून ५, १९३७ ई०

सदाचार, नीति और धर्म इन सभी का एक ही प्रयोजन है। सदाचार का जीवन धर्म के आश्रय बिना ठीक उस भवन के समान है जो बालू पर टिका हुआ है। और वह धर्म जिस में सदाचार नहीं है, उस खनखनाते हुए पीतल के समान है जो केवल शोर मचाता है और सिर फोड़ता है। सदाचार में सचाई अहिंसा और संयम सम्मिलित हैं। प्रत्येक अच्छाई, जिसको मनुष्य ने आचरण में लिया है, इन तीन गुणों में से किसी एक से सम्बन्ध अवश्य रखती है। अहिंसा और सयम भी सचाई से ही निकले हैं। सचाई मेरे लिये ईश्वर है।

कोई भी पुरुप या स्त्री विना संयम के कुछ नहीं कर सकते। इन्द्रियों के ऊपर संयम के बिना मनुष्य की दशा उस नौका के समान रहती है जो बिना पतवार की है और टक्कर खाकर पहली चट्टान से ही टूक टूक हो सकती है। इसी लिये मैं सदा संयम पर बल देता हूँ। मेरे प्रश्नकर्ता का यह कहना ठीक है कि सन्तान-निरोधक कृत्रिम उपायों ने स्त्री पुरुप के सम्बन्धों के विपय में लोगों के विचार ही बहुत परिवर्तित कर दिये हैं। यदि परस्पर सहमति से ही सम्भोग एक पवित्र निर्दोप कार्य मान लिया जाय और फिर वह विवाह होने पर अथवा उसके बिना ही होने लगे और इसी बराबरी की युक्ति के आधार पर उसी वर्ग के

लोगों में होने लग जाय तो सम्भोग का सम्पूर्ण नैतिक आधार ही नष्ट हो जाता है। फिर तो इस देश के नवयुवकों के लिये दुःख और विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता है। बहुत से नवयुवक और नवयुवतियाँ हिन्दुस्थान में ऐसी मिलेंगी जो आपसी सम्भोग की चाह से छुटकारा पाने पर प्रसन्न होंगी; जिसके बन्धन में वे अभी फँसी हुई हैं। इस प्रकार की चाह, सब से बड़े मादक पदार्थ से भी अधिक हानि करने वाली होगी। ऐसी आशा रखना भ्रम होगा कि सन्तान-निरोधक उपायों का प्रयोग केवल पति-पत्नी में सन्तति-नियमन के लिये ही किया जायगा। पति-पत्नी का सम्मिलन केवल अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही होना जीवन को अच्छा बना सकता है। इस प्रकार किसी का भी कामातुर होकर मैथुन करना और मन माने ढंग पर व्यभिचार करना नियम विरुद्ध होगा। सन्तानोत्पत्ति नहीं होने देना परन्तु सम्भोग करते रहना एक ऐसी बुराई है जिससे व्यभिचार बढ़ेगा और एक भारी पाप का अपराधी दण्ड पाने से बच जायगा, जो कि एक अप्राकृतिक बुराई को बढ़ाने का कारण होगा। —हरिजन : अक्टूबर ३, १९३६ ई०

वह मनुष्य जिसके विचार इधर उधर भटकते नहीं और अच्छे हैं; जिसकी निद्रा स्वप्नों को जानती ही नहीं, जो सोता हुआ भी सावधान है, वह यथार्थ में स्वस्थ मनुष्य है। उसे कुनाइन पीने की जरूरत नहीं है। उसके शुद्ध रुधिर में सभी रोगों का सामना करने की शक्ति है। मैं इस प्रकार का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य पाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। ऐसा स्वास्थ्य पराजय और असफलता से सदा ऊपर है।

मेरा महात्मापन व्यर्थ है। वह तो बाह्य कार्यों और मेरे राजनीतिक जीवन से सम्बन्ध रखता है। किन्तु ये बातें मेरी वैयक्तिक नहीं

हैं और इसलिये नष्ट हो जाने वाली हैं। जिस स्थिर अच्छाई पर मैं बल देता हूँ, वे तो है—सचाई, अहिंसा और ब्रह्मचर्य। इन्हीं को मैं अपना समझता हूँ। वह मेरा टिकाऊ भाग चाहे जितना छोटा क्यों न हो मैं उसे तुच्छ नहीं मानता। वह मेरा सब कुछ है। मैं असफलता और भूल-सुधार को भी बड़ी बातें समझता हूँ। क्योंकि वे मनुष्य को सफलता की ओर बढ़ाने वाली हैं।

मैं स्वयं इस बात को जानने को उत्सुक हूँ कि एक पदार्थ जिसे वैज्ञानिक कहा जाता है और लाभप्रद माना जाता है तथा जिसका समर्थन बहुत बड़े बड़े लोग कर रहे हैं, मुझे क्यों पीछे हटाता है? मैं निरन्तर उस के लाभों को देखने के प्रयत्न में हूँ।

इसलिये मुझे तो इस बात का सन्तोषजनक प्रमाण नहीं मिला है कि विवाह संभोग के लिये करना, स्त्री और पुरुष के लिये एक अच्छी और हित की बात है। मैं अपने वैयक्तिक और अपने मित्रों के अनुभव से इसके विरुद्ध प्रमाण उपस्थित कर सकता हूँ। मुझे तो स्मरण नहीं आता कि हममें से किसी ने मैथुन के द्वारा मानसिक, आत्मिक या शारीरिक लाभ प्राप्त किया हो। हां, इससे क्षणिक उत्तेजना और तात्कालिक सन्तोष अवश्य मिला है। किन्तु साथ ही साथ उसके पीछे थकावट भी उत्पन्न हुई है ज्यों ही थकावट दूर हो जाती, तुरन्त ही फिर से संभोग करने की चाह उत्पन्न हो जाती है। यद्यपि मैं सदा अपना कार्य सावधानी से करता आया हूँ, फिर भी मुझे ठीक ठीक स्मरण है कि इस प्रकार संभोग में फंसने से मेरे काम में अवश्य गड़बड़ होती थी इस स्मृति ने ही मुझे सदा आत्म-संयम की राह पर स्थिर रखा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस प्रकार के आत्म-संयम ने ही मुझे लम्बे लम्बे समय तक व्याधियों से बचाया; और शारीरिक तथा मानसिक शक्ति दी जिससे मैं इतना कार्य कर सका कि मेरे कार्य को देखने वालों ने दाँतों तले अंगुलियाँ दबाई हैं।

मनुष्य निःसन्देह एक कलाकार और विधाता है। निश्चय ही उसमें सुन्दरता है और इसीलिये रंग भी है। उसकी कलाप्रियता और निर्माण शक्ति ने ही उसे आत्म-संयम में सौन्दर्य और विनाशक मैथुन में बुराई देखने योग्य बनाया। उसकी कलामय दृष्टि ने उसे सिखा दिया है कि कोई भी रंगीन आकर्षण सुन्दरता का स्वरूप नहीं है; और न इन्द्रियों का सुख ही स्थायी है। उसकी कला-दृष्टि ने उसे यह सिखा दिया है कि उपयोगिता में सुख होता है। इसलिये उसने आरम्भ से ही इस बात को समझ लिया कि उसे अपना पेट भरने के लिए नहीं जीना है, जैसा कि हम में से बहुत से लोग समझते हैं, प्रत्युत उस प्राण धारण के लिये खाने की आवश्यकता है। दूसरे कदम पर उसने आगे यह भी सीखा कि अपने लिए जीवित रहने में न तो कोई प्रतिष्ठा और न सुख ही है; प्रत्युत उसे जीवित रह कर अपने साथियों की सेवा करनी चाहिये और इसी उपाय से ईश्वर की सेवा भी हो सकती है। उसी प्रकार जब उसने संभोग-सुख पर ध्यान दिया तो उसे ज्ञात हुआ कि अन्य सभी इन्द्रियों की तरह जननेन्द्रिय के कार्यों में भी गुण-दोष हैं; और तब उसने देखा कि जननेन्द्रिय का सच्चा कार्य, विशेष उपयोग सन्तानोत्पादन तक का ही है। उसने देखा कि उसका अन्य बातों में उपयोग वाञ्छनीय नहीं है। उसने आगे यह भी सोचा कि यदि उससे कोई अन्य काम लिया जायगा तो उसको स्वयं और सारी मानव-जाति को भयंकर परिणाम सहन करने पड़ेंगे। अब इस युक्ति को आगे बढ़ाना मैं आवश्यक नहीं समझता।

लेखक का यह कहना ठीक है कि मनुष्य कला को अपनी आवश्यकता के लिए उत्पन्न करता है। आवश्यकता न केवल अनुसंधान की ही जननी है, वह तो कला की भी माँ है। इसलिये हमें उस कला का ध्यान रखना चाहिये जिसका आधार आवश्यकता पर नहीं है।

—हरिजन : अप्रेल ४, १९३६ ई०

इसका तात्पर्य सारांश में इस प्रकार समझाया जा सकता है; वह रहन-सहन जिसके द्वारा ईश्वर की स्मृति बनी रहे समस्त इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखने से प्राप्त होता है। उस शब्द का यही सच्चा और यथार्थ अर्थ है।

साधारणतया इसका अभिप्राय यह मान लिया गया है कि जननेन्द्रिय पर शारीरिक दबाव बनाये रखना। इस अधूरे अर्थ ने ब्रह्मचर्य की महिमा को घटा दिया है और उसके अभ्यास को असम्भव और अव्यावहारिक बना दिया है। सभी इन्द्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त किये बिना जननेन्द्रिय पर संयम करना असंभव है। वे सभी एक दूसरे पर आश्रित हैं। मन के विजय की पहली सीढ़ी इन्द्रियों की विजय है। मन को वश में किये बिना केवल शरीर का संयम यदि कभी थोड़े समय के लिये हो भी गया तो वह कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा सकता है।

—हरिजन : जून १३, १९३६ ई०

निश्चय ही विषय-भोग का जीवन एक आदर्श जीवन किसी भी अवस्था में नहीं कहा जा सकता। किसी आदर्श तक पहुँचने के अभ्यास के लिये कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। किन्तु प्रत्येक मनुष्य इस बात को स्वीकार करेगा कि सीमा से बढ़ कर भोग-विलास में रहने वाला मनुष्य या राष्ट्र अवश्य ही विनष्ट हो जायगा। इसलिये आत्म-संयम ही हमारा आदर्श हो सकता है, और यही बात प्राचीन काल से भी चली आ रही है। इस लिये इसको प्राप्त करने के उपाय हमें जानने चाहियें इसके चारों ओर घूमते हुए मूल वस्तु से बचने के ढंग नहीं करने चाहिएं।

—हरिजन : मार्च २०, १९३७ ई०

छोटी छोटी लड़कियों की पवित्रता के लिये आवश्यकता से अधिक सावधानी का अर्थ यह है कि हमारा अपना ही मन पवित्र नहीं है और उस में सन्देह भरा हुआ है।

—यंग इण्डिया : अगस्त १६, १९२६ ई०

भाग ५

विवाह की समस्या

विवाह बन्द कर दिये जायं !

एक लेखक जिन्हें मैं अच्छी प्रकार से जानता हूं एक प्रश्न रखते हैं, जिसे मैं केवल शिक्षा संबन्धी रुचि से रखा गया समझता हूं। क्योंकि मैं जानता हूं ऐसे विचार उनके नहीं हैं।

"क्या हमारा वर्तमान सदाचार प्रकृति-विरुद्ध नहीं है? यदि वह स्वाभाविक और प्राकृतिक है तो वह सब समय और सब देशों में एकसा होना चाहिए। किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि प्रत्येक जाति और सम्प्रदाय में पृथक पृथक विवाह के नियम हैं। उनको क्रिया में लाने के लिए मनुष्य ने पशु से भी बुरे काम किये हैं। जो रोग पशुओं में भी नहीं पाये जाते, वे मनुष्यों में बड़ी मात्रा में पाये जाते हैं। बाल-हत्याएं, गर्भ-पात और बाल-विवाह पशु-जगत में असम्भव हैं। "किन्तु वे बुराइयां आज उन्हीं सम्प्रदायों में फैली हुई हैं, जिन्होंने विवाह को एक धार्मिक कर्तव्य मान रखा है; और जन्हें हम सदाचार के नियम माने हुए हैं, उनसे दुष्परिणामों की समाप्ति नहीं हो पाई है। हिन्दू विधवाओं की दुःखजनक दशा पर ध्यान दीजिए। विवाह के वर्तमान नियमों के अतिरिक्त उसका दूसरा कारण ही क्या है? हम फिर से प्रकृति का सहारा क्यों न लें? क्यों न हम पशु-सृष्टि की पुस्तक का एक पन्ना खींच लें?"

मुझे पता नहीं कि पश्चिम के निरङ्कुश प्रेम के पक्षपाती ऊपर बतलायी हुई युक्ति का साथ दें या उससे भी अधिक बलवान् कारण

उपस्थित करें, किन्तु मुझे विश्वास है कि विवाह को बन्धन के बराबर मानने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से पश्चिमी है। यदि यह युक्ति भी पश्चिम से पायी हुई है तो उत्तर देना कठिन नहीं है।

मनुष्य और पशु की एक दूसरे से तुलना करना ही अनुचित है। यही तुलना सारी युक्ति को बिगाड़ती है। क्योंकि मनुष्य सदाचार की स्वाभाविक बुद्धि में और सदाचार के पालन में पशु से बहुत ऊँचा उठा हुआ है। प्रकृति के जो नियम एक के लिए लागू हैं, वे दूसरे के लिए सर्वथा भिन्न हैं। मनुष्य के पास बुद्धि, विवेक और स्वतन्त्र विचार शक्ति है। पशु में ये बातें नहीं हैं। वह सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। वह गुण-दोष या भलाई-बुराई को नहीं पहचान सकता। मनुष्य स्वतन्त्रता से काम कर सकता है। वह इन भेदों को समझता है। जब वह अपने ऊंचे स्वभाव से काम लेता है तो वह अपने आप को पशु से कई गुना ऊँचा सिद्ध करता है, किन्तु जब वह अपने नीच स्वभाव से काम लेता है तो पशु से भी नीचे गिर जाता है। ऐसी जातियां जो कि सर्वथा असभ्य कही जा सकती हैं, उन्होंने भी स्त्री-पुरुष के संबन्ध पर किसी न किसी ढंग का बन्धन अवश्य कर रखा है। यदि यह कहा जाय कि बन्धन ही बर्बरता है, तो फिर सभी बन्धनों से छुटकारा पाना मनुष्य का नियम होना चाहिये। यदि सभी मनुष्य इस प्रकार के उच्छृङ्खलता के नियमों पर चलने लगें तो चौबीस घन्टे के अन्दर ही सारा संसार उथल-पुथल हो जायगा। मनुष्य में पशु से अधिक काम-वासना होती है। यदि सभी बन्धन उठा लिए जायँ तो उसकी काम-वासना के ऊपर से प्रतिबन्ध हट जायगा, संसार में व्यभिचार बढ़ जायगा और मनुष्यता समाप्त हो जायगी। मनुष्य पशु से इस बात में बढ़ा हुआ है कि वह संयम को निभा सकता है और त्याग कर सकता है। पशु में यह गुण नहीं हैं।

विवाह के नियमों में शिथिलता आ जाने से वर्तमान समय में कई प्रकार के रोग फैले हुए हैं। जिन का विचार लेखक को है उनका

क्या एक भी दृष्टान्त ऐसे मनुष्यों में बतलाया जा सकता है, जिन्होंने विवाह के बन्धन को पूर्णतया निभाया है ? भ्रूण हत्यायें, बाल-विवाह आदि भी विवाह के नियमों को तोड़ने का फल है। क्योंकि नियम में शर्त तो यह है कि पुरुष और स्त्री यौवनावस्था में आने पर यदि स्वस्थ हैं, संयम से रह सकते हैं और सन्तानोत्पत्ति की इच्छा रखते हैं तो वह अपने लिये साथी का चुनाव कर सकते हैं। जो इस नियम का पूर्णतया पालन करते हैं और विवाह के बन्धन को पवित्र कार्य मानते हैं, उन्हें दुःखी या व्याकुल होने का अवसर नहीं आता। जहाँ विवाह एक धार्मिक कार्य है, वहां जो गठ-बन्धन है वह भी शारीरिक नहीं है। दोनों में से किसी की भी मौत हो जाने पर वह टूट नहीं सकता है। जहां आत्माओं का सच्चा मिलाप है, वहां किसी विधवा या विधुर का फिर से विवाह करने की कल्पना ही नहीं की जा सकती, वैसा विचार भी अनुचित और अस्थानिक होता है। ऐसे विवाह, जिनमें विवाह के सही नियम ठुकराये जाते हैं, उल्लेखनीय नहीं हैं। यदि आज सच्चे विवाह बहुत कम होते हैं तो उसके लिए विवाह प्रणाली का दोष नहीं कहा जा सकता परन्तु उसके वर्तमान स्वरूप को दोष पूर्ण कहना होगा, जिसका सुधार होना चाहिए।

लेखक की युक्ति है कि विवाह एक सदाचार का या धर्म का बन्धन नहीं है वह तो एक प्रथा है; और जो प्रथा किसी धर्म या नीति के विरुद्ध हो, उसे तोड़ देना चाहिए। मैं निवेदन करता हूँ कि शादी एक ऐसी बाड़ है जो धर्म की रक्षा करती है। यदि बाड़ तोड़ दी जायगी तो धर्म के खण्ड खण्ड हो जायँगे। धर्म का आधार बन्धन है और विवाह बन्धन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जो मनुष्य बन्धन को नहीं मानता है, उसे आत्मज्ञान पाने की आशा नहीं रखनी चाहिए। मैं स्वीकार करता हूँ कि एक नास्तिक और जड़वादी के सम्मुख बन्धन की उपयोगिता

प्रमाणित करना कठिन है। किन्तु एक मनुष्य जो शरीर का नाश और आत्मा का अमर होना मानता है उसे यह बात अनायास ही समझ में आ जायगी कि बिना अपने-अनुशासन और संयम के आत्म-दर्शन होना असंभव है। हमारा शरीर या तो विषय वासनाओं के लिए खेल का क्षेत्र बन सकता है या आत्म ज्ञान का मन्दिर हो सकता है। यदि इसे आत्म-मन्दिर बनाना है तो निरङ्कुशता के लिए स्थान नहीं। आत्मा तो सदा ही शरीर की इच्छाओं को दबाती रहेगी।

जहाँ विवाह के बन्धन ढीले हुए, जहाँ संयम के नियम तोड़ दिये गये कि स्त्री भोग-विलास की वस्तु बन जायगी। यदि मनुष्य पशुओं के समान स्वच्छन्द हो गये तो सीधे ही नरक का मार्ग ग्रहण करेंगे। मेरा पूर्ण भरोसा है कि वे समस्त बुराइयाँ जिनका उल्लेख प्रश्न-कर्ता ने किया है विवाह के प्रतिबन्ध को उठा देने से दूर नहीं हो सकतीं। किन्तु वे दूर की जा सकती हैं विवाह के नियम को ठीक ठीक समझने और पालन करने से। मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि कुछ जातियों में विवाह बहुत समीप के संबन्धियों में होता है तो कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं जिनमें विवाह समीप के संबन्धियों में नहीं हो सकता। कुछ जातियों में बहु-विवाह चालू है तो कुछ में उसकी रोक है। यदि कोई इस बात का इच्छुक है कि एक ही ऐसा नैतिक नियम बना दिया जाय जिसे सभी जातियाँ स्वीकार कर लें तो उसको ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार की भिन्नता से बन्धनों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं सिद्ध होती। जैसे जैसे हमारा अनुभव बढ़ता जायगा वैसे वैसे हमारा आचार भी एकता की ओर आगे बढ़ेगा। आज भी संसार के लोग एक पत्नीव्रत को ऊँचा आदर्श मानते हैं। और किसी भी धर्म में बहु-विवाह आवश्यक नहीं कर दिया गया है। देश और काल के अनुसार इस प्रथा को ढील दे देने से वास्तविक आदर्श पर कोई आँच नहीं पहुँची।

मैं विधवा-विवाह के विषय में अपने विचारों को दुहराना नहीं चाहता। क्योंकि मैं बाल विधवाओं के पुनर्विवाह को न केवल ठीक ही समझता हूं; परन्तु जिन लोगों की लड़कियाँ इस प्रकार विधवा हुई हैं उनका यह कर्तव्य है कि वे उनका विवाह फिर से कर दें, इस बात पर बल देता हूँ।

—यंग इण्डिया : जून ३, १९२६ ई०

केवल भारतवर्ष में ही ऐसी बात है कि बचपन से ही विवाह की चर्चा आरम्भ हो जाती है। माँ-बाप को इसके अतिरिक्त अन्य विचार ही नहीं होते हैं; दूसरी कोई इच्छाएं ही नहीं रहती हैं। उन्हें तो बस इसी बात की लगी रहती है कि उन के बच्चों का विवाह अच्छी तरह से हो जाय और वे अच्छी तरह से घर-बार सम्हाल लें। पहली बात मन और शरीर को बलहीन बनाती है और प्रायः घुला-घुला कर मारती है। हम पवित्रता और संयम को एक आकाश-कुसुम मान बैठे हैं। इन्हें अलौकिक गुण समझने लग गए हैं; यह समझ बैठे हैं कि ये बातें तो महात्माओं और योगियों के लिये ही हैं; और संयम को सांसारिक जीवन से पृथक कर रखा है। इस बात को भूले हुए हैं कि महात्मापन और योग उस समाज के लिये एक दूर का पदार्थ बन गया है, जिसका सामान्य जीवन बहुत पतित बन गया है। खरहे और कछुए की कहानी में जिस प्रकार खरहे की पराजय शीघ्रता के कारण हो गई और बेचारा कछुआ धीरे-धीरे अपना मार्ग पूर्ण कर गया, उसी प्रकार पश्चिम की बुराइयाँ हम में बिजली की तरह एक दम पैदा होती जा रही हैं; वहाँ की तड़क भड़क से चकाचौंध होकर हम जीवन के वास्तविक आदर्शों को भूल चुके हैं। हम अपनी पवित्रता के लिये लज्जा अनुभव करने लग गए हैं। हम अपने मन से अपने आपको अशक्त मान बैठे हैं। प्रतिदिन पश्चिम से हमारे देश में तड़क भड़क की सामग्री निरन्तर आ

रही है; हम उसे देख कर अपने को दारिद्र मान बैठे हैं। किन्तु हमारे देश के लोग जो कुछ देख रहे हैं, वैसा पश्चिम का समाज वास्तव में है नहीं। जिस प्रकार दक्षिणी अफ्रीका के गोरे हिन्दुस्तानियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उसी प्रकार हम भी उनकी जिन्दगी को और उन की भोग-सामग्रियों को जो निरन्तर यहाँ पहुँच रही हैं तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। पश्चिम में पवित्रता और शक्ति का एक छोटा सा किन्तु अटूट स्रोत विद्यमान है, जिसको वहाँ के दूषित वायु-मण्डल में वे ही लोग देख सकते हैं जिनमें देखने की बुद्धि है। यूरोप के बालुकामय क्षेत्र में कुछ ऐसे जल-प्रवाह हैं जहाँ केवल सच्चे साधक ही जीवन का पवित्र जल पी सकते हैं। सैंकड़ों पुरुषों और स्त्रियों ने पवित्र और धन-हीन जीवन को निःसङ्कोच होकर हृदय से किसी प्रेमी की या देश की सेवा के लिए अपनाया है। हम प्रायः आत्मिक जीवन के विषय में बातें करते रहते हैं और बतलाते रहते हैं कि इसका सांसारिक जीवन से कोई संबन्ध ही नहीं है; यह मान बैठे हैं कि वैसा जीवन तो हिमालय के जंगलों में और वहाँ की गुफाओं में रहने वाले साधु-संतों के लिये ही सम्भव है। उनके पास कोई पहुँच नहीं सकता है और न वे किसी को दर्शन देते हैं। इस प्रकार की लोगों की भ्रान्त धारणा बनी हुई है। जिस आत्मिक जीवन का दैनिक जीवन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पहुँचता हो वह तो केवल कल्पना की वस्तु ही है।

मैं चाहता हूँ कि आजकल जो ऐसे भ्रामक विचार फैले हुए हैं उनको आप तुरन्त दूर कर दें। ऐसी शिक्षा दी जा रही है कि इन्द्रिय-विजय और संयम अस्वाभाविक उपाय हैं और स्वच्छन्दता से संभोग करना और प्रेम करना नैसर्गिक जीवन है। इससे अधिक विनाश करने वाली भ्रान्त धारणा अभी तक सुनी नहीं गई है। आप आदर्श तक पहुँचने के लिये अयोग्य हो सकते हैं, आप का शरीर निर्बल हो सकता है, किन्तु इसलिए आदर्श को नीचे मत गिराओ। अधर्म को धर्म मत

बनाओ। मैं जो कह रहा हूँ उसे आप अपने निर्बल क्षणों में स्मरण रखिये। इस पवित्र अवसर (विवाह संस्कार) की स्मृति आप को बलवान् और संयमी बना देगी। विवाह का उद्देश्य ही संयम और संभोग को ऊँचा उठाने का है। यदि अन्य कोई कारण है तो विवाह एक पवित्र पदार्थ नहीं है। अन्य कारणों से विवाह करना सन्तानोत्पत्ति के गौरव को भी नष्ट कर देगा।

—हरिजन : अप्रैल २४, १९३७ ई०

विवाह अपनी पवित्रता उस अवस्था में खो देता है जब उसका उद्देश और ऊँचा आदर्श केवल इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने तक का ही रह जाता है, और जब इस प्रकार के इन्द्रिय-सन्तोष के स्वाभाविक परिणामों पर ध्यान नहीं दिया जाता।

—हरिजन : मार्च २९, १९३६ ई०

जो प्रेम केवल संभोग के लिए हुआ है वह स्वार्थमय है और बहुत संभव है कि एक सामान्यसी परीक्षा उसे तोड़ दे। जब कि पशुओं में संभोग एक धार्मिक कार्य नहीं है, वैसी स्थिति में मनुष्य भी एक धार्मिक कर्तव्य क्यों माने ? हम भी उसको उसके प्राकृतिक रूप में ही क्यों न देखें अर्थात् केवल सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही ? क्यों कि यह काम तो प्रकृति हमें विवश बनाकर हम से करवा ही लेती है। केवल कुछ एक ही मनुष्य ऐसे होते हैं, जिनमें कुछ स्वतन्त्र प्रवृत्ति होती है और भले कामों को करने के लिए आत्म-संयम को ग्रहण करते हैं; जब कि उनके अन्य भाई पशुओं की भांति ही जीवन व्यतीत करते रहते हैं। स्वभाव से विवश हो कर लोग यह सोचने लगते हैं कि प्रेम के बढ़ाने के लिए संभोग एक आवश्यक और अच्छी बात है।

सन्तानोत्पादन की बात पर तो ध्यान ही नहीं रहता है। किन्तु अनुभव से जो बात प्रतीत हुई है वह ठीक इसके विपरीत है। संभोग से प्रेम दृढ़ नहीं होता है। प्रेम को बनाये रखने और बढ़ाने के लिए इसकी सर्वथा अपेक्षा नहीं है। ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि संयम ने प्रेम को दृढ़ बनाया है। सच तो यह है कि अपनी नैतिक उन्नति के लिए मनुष्य को स्वेच्छा से ही आत्म-संयम को क्रिया में लाना चाहिए।

मनुष्य जाति निरन्तर उन्नति की ओर बढ़ रही है। आध्यात्मिक शब्दों में वह अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानने की दौड़ में व्यस्त है। यदि यही बात है तो उसे अपनी शरीर की कामनाओं को दबाते ही रहना चाहिए। इस प्रकार विवाह एक पवित्र बन्धन बन जाता है, जो कि पुरुष तथा स्त्री को अनुशासन में रखता है। उसके द्वारा संभोग की मर्यादा उन्हीं तक रहती है और सन्तानोत्पत्ति करने की जब उन दोनों को इच्छा होती है और जब वे दोनों उसके लिए उद्यत होते हैं, तभी वे संभोग करते हैं।

आज से ही प्रत्येक मनुष्य और स्त्री इस बात का पक्का निश्चय कर सकते हैं कि वह रात को न तो एक कमरे में और न एक बिछौने पर सोयेंगे और इस प्रकार संभोग को छोड़ देंगे। संभोग केवल उस ऊँची बात के लिए ही किया जाय, जो मनुष्य और पशु दोनों के लिए एकसी ठीक है। पशु उस नियम का पालन पूर्णतया करता है। मनुष्य के लिए यह बात उसकी इच्छा पर आश्रित है, जिसका परिणाम यह है कि वह अनुचित मार्ग पर चलता है। सन्तान रोकने के जो भी कृत्रिम उपाय कार्य में लाये जाँय उनका विरोध प्रत्येक स्त्री को करना चाहिए। प्रत्येक स्त्री-पुरुष को यह बात अच्छी प्रकार समझ लेनी चाहिए कि ब्रह्मचर्य से कोई भी रोग नहीं उत्पन्न होता, उलटा स्वास्थ्य और बल बढ़ता है, परन्तु यह आवश्यक है कि शरीर के साथ मन पर भी संयम बना रहे।

घरेलू शान्ति की बड़ी महत्ता है। किन्तु सब कुछ उसे ही नहीं मान बैठना चाहिए। मुझे विवाहित जीवन उतना ही अनुशासित दिखाई देता है जितना अन्य कोई जीवन हो। जीवन एक कर्तव्य है—एक परीक्षा का समय है। विवाहित जीवन इस लोक और परलोक दोनों को ऊँचा उठाने के लिए है। यह मनुष्यों की सेवा के लिए भी है। जब दो में से कोई एक अनुशासन को तोड़ता है, तो दूसरे को भी उसे तोड़ने का अधिकार हो जाता है। इस प्रकार प्रतिज्ञा-भंग नैतिक है, न कि शारीरिक। इस में तलाक (त्याग) के लिए अवकाश नहीं। पति-पत्नी पृथक होते हैं, परन्तु उस उद्देश को पूर्ण करने के लिए, जिस के लिए उन्होंने विवाह किया था। हिन्दू धर्म में दोनों की स्थिति समानता की है। निःसन्देह एक नई प्रथा खड़ी हो चुकी है; कोई नहीं जानता है कि वह कब से आरम्भ हुई। उसी प्रकार कई अन्य बुराईयों ने भी घर कर लिया है। यद्यपि मुझे इस बात का ज्ञान नहीं है कि हिन्दू धर्म में पुरुष या स्त्री को आत्म-ज्ञान पाने के लिए पूर्णतया व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त है या नहीं? किन्तु मुख्यतया उसी के लिए पुरुष और स्त्री का जन्म हुआ है।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर २१, १९२६ ई०

हिन्दू संस्कृति ने पत्नी को पति के अधीन बनाकर एक भूल की है, और उसमें इस बात पर बल दिया गया है कि पत्नी अपने पति की सेवा में इतनी लीन हो जाय कि वह अपने आपको भी भूल जाय। इसका इतना बुरा परिणाम हुआ है कि कहीं कहीं तो पति ने अपनी पत्नी पर पशु जैसा बर्ताव किया है।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर ३०, १९२६ ई०

मेरी समझ में सीता स्त्रियों के लिये और राम पुरुषों के लिये आदर्श रूप हैं। किन्तु सीता राम की दासी नहीं थी; या ऐसा कहिये कि दोनों एक दूसरे के सेवक थे। पत्नी अपना मार्ग-निर्धारण करने के सर्वथा योग्य थी, और जब उसे प्रतीत हुआ कि उसकी प्रवृत्ति एक भले काम के लिए थी और वह एक सही मार्ग पर थी तो उसने सब परिणामों को वीरता से सहन किया।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर २१, १९२६ ई०

प्रत्येक लड़की—प्रत्येक भारत की लड़की—विवाह के लिए ही उत्पन्न नहीं हुई है। मैं ऐसी कई लड़कियों के उदाहरण दे सकता हूँ जिन्होंने किसी एक पुरुष की सेवा करने के स्थान पर आज जनता की सेवा के लिये अपने आप को अर्पित किया है। अब वह समय आ पहुँचा है जब कि एक हिन्दू लड़की को फिर से एक आदर्श बनाना है और यदि संभव है तो पार्वती और सीता से भी बढ़कर काम करके दिखाना है।

—यंग इण्डिया : नवम्बर २९, १९२७ ई०

दहेज प्रथा

कोई भी युवक जो दहेज की शर्त पर विवाह स्वीकार करता है वह अपनी शिक्षा पर धब्बा लगाता है; अपने देश और स्त्री जाति को नीचे गिराता है।

दहेज की इस बुरी प्रथा को रोकने के लिये जनता में एक प्रबल आन्दोलन चलाने की आवश्यकता है। उन युवकों का समाज से बहिष्कार होना चाहिये, जो इस प्रकार के ढंग को अपनाते हैं। लड़कियों के मां-बाप को अंगरेजी उपाधियों की चकाचौंध में आने की आवश्यकता

नहीं। उन्हें अपनी लड़कियों के लिये सच्चे और वीर युवकों की खोज में जाति-भेद और देश-भेद को ठुकरा देना चाहिये।

—यंग इण्डिया : जून २१, १६२८ ई०

यदि मेरी देख रेख में कोई लड़की हो और उसको अपनी पत्नी बनाते समय कोई नवयुवक इस बात की आशा रखे कि कुछ पैसा मिल जाय तो मैं उस लड़की का विवाह न करते हुए उसे जीवन भर अविवाहित रखना अधिक अच्छा समझूंगा।

—यंग इण्डिया : फरवरी १४, १६२७ ई०

इस प्रथा को समाप्त करना होगा। धन के लोभ में मां-बाप जो विवाह ठहराते हैं उस प्रथा को निर्मूल करना अनिवार्य है। जातिवाद ने इस प्रथा को दृढ किया हुआ है। जब तक विवाह किसी एक जाति के सौ दो सौ लड़के या लड़कियों के क्षेत्र में ही तय होते हैं तब तक चाहे जितना समझाया जाय; दहेज की यह बुरी प्रथा नहीं मिटाई जा सकती। यदि इस बुराई की जड़ को खोद कर उसे नष्ट करना है तो लड़कों को और लड़कियों को अथवा उनके मां-बाप को जातीय-बन्धन को तोड़ना पड़ेगा। विवाह की आयु भी बढ़ानी होगी और कन्याओं को योग्य वर न मिलने पर अविवाहित भी रहना होगा। इन सब बातों का यह तात्पर्य निकलता है कि इस प्रकार शिक्षा दी जाय कि जिससे राष्ट्र के नवयुवकों और नवयुवतियों के मन में नवीन क्रान्ति हो जाय। दुर्भाग्य से वर्तमान शिक्षा-प्रणाली इस ढंग की है कि जिसका हमारी परिस्थितियों से कोई मेल नहीं है। हमारी जाति के कुछ लड़के व लड़कियां जिस शिक्षा को पा रहे हैं, उन पर इस प्रकार की शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। तो भी बुराई को तो मिटाना ही है; इसलिये उसे मिटाने को जो कुछ भी किया जा सकता है, हमें करना चाहिये। मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होता

है कि यह और अन्य ऐसी बुराइयां तभी दूर हो सकती हैं जब ऐसी शिक्षा चालू की जाय, जो शीघ्र बदलती हुई अपने देश के स्थिति के अनुरूप हो। क्या कारण है कि इतने लड़के और लड़कियां जो कालेज की शिक्षा पा चुकने के पश्चात् भी उन बुराइयों का विरोध नहीं करते हैं और न उनको मिटाने की इच्छा ही करते हैं, जब कि वे प्रथायें उनके भविष्य को उसी प्रकार बिगाड़ने वाली हैं जिस प्रकार कि विवाह संबन्धी प्रथायें। अनमेल विवाह के कारण पढ़ी लिखी लड़कियां आत्मघात करती हुई क्यों पायी जाती हैं? यदि उनमें बुरी प्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन करने का नैतिक बल नहीं है, तो उनकी शिक्षा का क्या मूल्य हो सकता है? उत्तर स्पष्ट है—उनकी शिक्षा में ही कोई ऐसी न्यूनता है जिसके कारण लड़के और लड़कियों में सामाजिक और अन्य बुराइयों से संग्राम करने का साहस ही उत्पन्न नहीं होता। वही शिक्षा सच्ची शिक्षा है जो किसी विद्यार्थी के जीवन की प्रत्येक समस्या को सुलझाने में ठीक प्रकार से सहायक हो।

—हरिजन : मई २३, १६३६ ई०

———

परदा

आचार की पवित्रता की तुलना उस स्थान से नहीं की जा सकती जहां पर पौधों को वैज्ञानिक ढंग से बढ़ाने का प्रबन्ध रहता है। वह किसी पर लादने की वस्तु नहीं है। उसकी रक्षा परदे की भीत नहीं कर सकती है। वह तो हृदय से उत्पन्न होने वाली वस्तु है और वही आचार सच्चा शुद्धाचार है जो सभी प्रकार के प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर सके। वह सीता के सतीत्व के समान अटल होना चाहिए। यदि किसी मनुष्य को देख कर ही एक स्त्री का मन चंचल हो जाता है तो वह एक भारी निर्बलता का प्रमाण है। मनुष्य को अपनी मनुष्यता की रक्षा करने

के लिए अपनी स्त्री पर भरोसा करना चाहिए, जैसा कि स्त्री को अपने पति की पवित्रता पर विवश होकर भरोसा करना पड़ता है। हमें अपने एक अंग या भाग को सर्वथा या किसी अंश तक भी निर्बल नहीं रखना चाहिए। यद्यपि राम स्वयं स्वाश्रयी और स्वतन्त्र थे फिर भी बिना सीता के उनका कोई महत्त्व नहीं रहता है। किन्तु उज्ज्वल स्वाधीनता का शायद एक अधिक अच्छा दृष्टान्त द्रौपदी का है। सीता सभ्यता की जीती जागती मूर्ति थी। वह एक कोमल फूल की पंखुड़ी थी। द्रौपदी एक भारी शाहबलूत का झाड़ थी। उसने पराक्रमी भीम को अपनी प्रबल इच्छा के अनुसार झुका दिया। भीम को देखकर सभी थर्राते थे किन्तु वह भी द्रौपदी के सन्मुख बकरी के बच्चे की तरह खड़ा रहता था। उसे पांडवों में से किसी का भी सहायता की आवश्यकता नहीं थी। आज भारतीय स्त्रियों की चतुर्मुखी उन्नति में बाधा डालकर हम स्वतन्त्र और उत्साही स्वभाव के लोगों के मार्ग में कांटे बिछा रहे हैं। हम स्त्रियों और अछूतों के साथ जो घोर अन्याय कर रहे हैं, उसका बोझ प्रतिदिन हमारे सिर पर बढ़ता ही जा रहा है। वह कुछ अंश तक तो हमारी निर्बलता अनिश्चय, संकुचित मनोवृत्ति, और विवशता के कारण से है। इसलिए हमें एक प्रबल प्रयत्न करके पर्दे को चीर डालना चाहिए।

—यंग इंडिया : फरवरी ३, १९२७ ई०

विधवापन

मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि एक सच्ची हिन्दू विधवा एक बहुमूल्य कोष है। वह मनुष्य जाति के लिये एक बड़ा उपहार है। रमाबाई रानाडे उसी प्रकार की एक अमूल्य रमणी-रत्न थी। किन्तु लड़कियों का विधवा होकर रहना हिन्दू-समाज के लिये एक कलङ्क की

बात है; उसके लिए रमाबाई जैसी स्त्री का दृष्टान्त देकर हम इस पाप का प्रायश्चित नहीं कर सकते हैं।

—यंग इण्डिया : दिसम्बर ४, १९२८ ई०

यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दू-विधवा का आदर्श बहुत ही ऊंचा है; फिर भी जहाँ तक मुझे ज्ञात है, वैदिक समय में विधवाओं के पुनर्विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। मैं यह बात सामान्य विधवाओं के लिये नहीं कहता हूँ। मैं तो बाल-विधवाओं के लिये कहता हूँ। सच तो यह है कि बाल-विधवाओं को विधवा ही नहीं मानना चाहिये। प्रत्येक हिन्दू जिसमें कुछ साहस और उत्साह है, उसे चाहिये कि इस प्रकार की अक्षम्य बुराई को समाप्त करने में सहायता पहुँचाये।

—यंग इण्डिया : जनवरी ९, १९३० ई०

मैंने कई बार इस बात को दुहराया है कि प्रत्येक विधवा को उतनी ही बार फिर से शादी करने का अधिकार है जितनी बार किसी विधुर को। विधवा होकर स्वेच्छा से अविवाहित बैठा रहना हिन्दू-धर्म की एक बहुमूल्य देन है। दबाव से विधवा होकर रहना या रखना एक शाप है।

—हरिजन : जून २२, १९३५ ई०

सतीत्व पवित्रता की सर्वोच्च सीमा है। मरने से वह पवित्रता न तो कोई पा सकता है और ना समझ ही सकता है। वह तो निरन्तर प्रयत्न करने, तत्परता से अपनी आत्मा को पवित्र बनाने से ही प्राप्त हो सकती है।

—यंग इण्डिया : मई २१, १९३१ ई०

चाहे मनुष्य अपनी स्त्री के बचाव का भार अपने सिर पर भले

ही बनाए रखे, फिर भी यदि कभी वह न रहा या वह अपनी पत्नी को बचाने के पवित्र कार्य में असफल रहा तो प्रत्येक भारतीय महिला का यह कर्तव्य है कि वह अपने आप को असहाय न माने।

—यंग इण्डिया : दिसम्बर १५, १९२१ ई०

वेश्यावृत्ति

उन समस्त बुराइयों में जिनके लिये कि मनुष्य उत्तरदायी है, मुझे एक भी बुराई इतनी गिरी हुई, चोट पहुँचाने वाली और पाशविक नहीं प्रतीत होती जितनी कि उसकी उत्तम अर्धाङ्गिनी—स्त्री जाति न कि दुर्बल जाति के प्रति किया जाने वाला दुर्व्यवहार है। वह दोनों में अधिक उच्च है; क्योंकि वह तो आज भी त्याग की मूर्ति, शान्त, सहन-शीलता का अवतार, नम्रता, श्रद्धा और ज्ञान का स्वरूप बनी हुई है।

—यंग इण्डिया : सितम्बर १५, १९२१ ई०

मैं जानता हूँ कि वेश्यावृत्ति एक भयंकर और बढ़ती हुई बुराई है। बुराई में से भी अच्छाई देखने की प्रवृति ने और कला के पवित्र नाम की ओट में बुराई की उपेक्षा करने की टेव ने या अन्य झूठी भावनाओं ने इस नीच वृत्ति को एक प्रकार की सुन्दर प्रतिष्ठा का जामा पहिना दिया है और वही इस नैतिक कोढ़ के लिए उत्तरदायी है। उस बुराई को केवल वही देख सकता है जो उससे घृणा करता है।

समय पर दृष्टिपात तो करिये। उसे हम अश्रद्धा या ईश्वर में बनावटी विश्वास का युग कह सकते हैं। आज भोग विलास की सामाग्री अपार हो गई है। एक समय ऐसा था जब कि रोम की शक्ति संसार में अपनी समता नहीं रखती थी। किन्तु जब वहाँ के लोग भोग विलास में डूब गए तो उनका नाश हो गया। आज वही स्थिति है। उसके लिये

कोई उपाय बरतना सरल बात नहीं है। वह नियमों की सहायता से सुधारा नहीं जा सकता। लन्दन उस बुराई से भरा हुआ है। पेरिस अपनी बुराई के कारण निन्दित हो रहा है और वह प्रायः उसका फ़ैशन बन चुकी है। यदि नियम ने उसकी रोक की होती तो ये ऊँची शिक्षित जातियां अपनी राजधानियों को इस दोष से छुटकारा दिला सकती थीं। मुझ जैसे सुधारक केवल लिखा-पढ़ी कर के इस पाप की समाप्ति सन्तोष जनक सीमा तक सर्वथा नहीं कर सकते हैं। इंग्लिस्तान का राजनीतिक शासन बुरा है। सामाजिक शासन तो बहुत ही बिगड़ा हुआ है। क्यों कि जब हमें राजनीतिक शासन बुरा लगता है और इसीलिये हम उस का विरोध करने का प्रयत्न करते हैं तो हम उनके सांस्कृतिक प्रभुत्व से प्रेम प्रकट करते हैं। हम अपने पागलपन के नशे में इस बात का विचार ही नहीं करते हैं कि जब उनकी संस्कृति का राज्य हम पर पूर्णता से छाया हुआ है तो फिर उनकी राजनीतिक दासता से हम मुक्ति कैसे प्राप्त कर सकेंगे? मेरे इस कथन से कहीं आप मुझे समझने में भूल न करें। मेरा कहना यह नहीं है कि बरतानिया के राज्य के पूर्व यहाँ वेश्यावृत्ति नहीं थी। किन्तु मैं तो यह बतलाता हूं कि वह इतनी अधिक नहीं थी जितनी आज है। पहले उसका क्षेत्र केवल इने-गिने धनवानों तक ही सीमित था। अब तो वह वेग से मध्य-श्रेणी के लोगों को भी नष्ट करने लगी है। मैं तो इस देश के नवयुवकों पर आशा बाँध कर बैठा हूँ। ऐसे लोग जो इस दोष के शिकार बने हुए हैं, वे स्वभाव से ही बुरे नहीं हैं। वे विवशता से और अविवेक से इसमें डूबे हुए हैं। उन्हें उस हानि को जान लेना चाहिये जो उनको और उनके समाज को इस से हो रही है। उन्हें इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि एक दृढ़ अनुशासित जीवन ही उन्हें और उनके देश को विनाश से बचा सकेगा। जब तक वे ईश्वर में भरोसा न करेंगे और जब तक वे उससे इस बात की सहायता न माँगेंगे कि हमें सभी

प्रलोभनों से बचाओ तब तक किसी भी प्रकार का थोथा अनुशासन उन को लाभ नहीं पहुँचा सकता। गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ठीक ही कहा है कि "यद्यपि मनुष्य उपवास करके अपने शरीर को दबा सकता है फिर भी वह उससे इच्छाओं को नहीं मार सकता है। इच्छाओं की समाप्ति तो तभी होती है जब मनुष्य ईश्वर को अपनी आँखों से देख लेता है।" जिस प्रकार बच्चे को पूरा पूरा भरोसा रहता है कि उसकी माँ उससे प्रेम करती है और जैसे इस बात को सिद्ध करने के लिये उसे किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती है ठीक उसी प्रकार एक जिज्ञासु के लिये ईश्वर के दर्शन की बात है। यहाँ पर ईश्वर-दर्शन से यह तात्पर्य है कि हमारे भीतर रहने वाली पवित्र आत्म-शक्ति को पहचान लेना। क्या कभी कोई बच्चा अपनी माता के प्रेम पर सन्देह करता है? क्या वह दूसरों के सम्मुख इसे सिद्ध कर सकता है? वह निःसंकोच इस बात को प्रकट और घोषित करता है कि "मेरी माता मुझे प्रेम करती है।" वही बात ईश्वर की सत्ता के विषय में कही जा सकती है। ईश्वर ज्ञान के भी परे है। उसका तो अनुभव हो सकता है। जब कि हम संसार के शिक्षकों के अनुभवों को भी सर्वथा सही मानते हैं, तो ऐसी सूरत में तुलसीदास, चैतन्य रामदास और कई दूसरे आध्यात्मिक गुरुओं के अनुभवों को तो कभी नहीं ठुकराना चाहिये।

—यंग इण्डिया : दिसम्बर १२, १९२७ ई०

हम सभी मनुष्यों को लज्जा के मारे वहाँ तक अपना सिर झुकाए रखना होगा जहाँ तक हमारी पशु-प्रवृत्ति को पूर्ण करने के लिये एक भी स्त्री उपस्थित है। यदि मनुष्य ईश्वर की सर्वोत्तम रचना का अपने भोग के लिए पशु बन कर उपयोग करता है तो मैं चाहूँगा कि मनुष्य की जाति संसार से उठ जाय तो अच्छा होगा।

—यंग इण्डिया : जुलाई २१, १९२१ ई०

भाग ६

सन्तति-नियमन

निःसन्देह सन्तानोत्पत्ति की रोक करने पर मतभेद नहीं हो सकता। किन्तु उसके लिये प्राचीन-काल से जो नियम चला आया है वही ठीक है। वह है आत्म-संयम या ब्रह्मचर्य। वह एक अचूक सुन्दर उपाय है और उन लोगों को लाभ पहुँचाता है, जो उसका अभ्यास करते हैं। डाक्टर लोग मनुष्य जाति का बड़ा भारी कल्याण करेंगे यदि वे सन्तानोत्पत्ति के रोक के साधनों के स्थान पर आत्म-संयम को निभाने के उपायों को ढूँढ निकालेंगे। संभोग क्षणिक सुख के लिये नहीं, किन्तु सन्तान उत्पन्न करने के लिये है। यदि सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा न हो और संभोग किया जाता है तो पाप है।

कृत्रिम उपायों से सन्तान वृद्धि को रोकना, धीरे-धीरे अपने में बुराईयों को बढ़ाना है। उनसे स्त्रियां और पुरुष असावधान बन जाते हैं। इन साधनों को प्रोत्साहन देने पर वे नियम उठते जायेंगे जिन्हें लोगों ने श्रेष्ठ समझ कर बनाये रखा है। कृत्रिम साधनों के उपयोग से निर्बलता और मन की शिथिलता उत्पन्न होती है। ऐसे उपाय रोग से भी बुरे सिद्ध होंगे। किसी काम के परिणामों से बचने का प्रयत्न करना अनुचित और आचार-विरुद्ध है। जो मनुष्य अधिक खा लेता है उनको यदि दर्द सहन करना पड़े और उपवास रखना पड़े तो ठीक ही है। यदि वह अपनी भूख को बुझाने के लिये अधिक खा ले और उसके पश्चात् पाचन की या अन्य दवा ले तो उसका बुरा परिणाम उठाना पड़ेगा। किसी मनुष्य के लिये उससे भी बुरी यह बात है कि वह अपनी काम वासना को तो पूर्ण करता चला जाता है, किन्तु उसके परिणाम से बचना

चाहता है। प्रकृति तो बिना भेद के सब से न्याय करती है। जो कोई इस प्रकार उसके नियम को तोड़ता है, उससे वह पूरा बदला लेती है। अच्छे परिणाम केवल अच्छे साधनों से ही प्राप्त होते हैं। अन्य सभी प्रकृति-विरुद्ध रुकावटें उस उद्देश को व्यर्थ कर देती हैं; जिसके लिये वे खड़ी की जाती हैं। जो लोग इन बनावटी साधनों से काम लेते हैं, उनकी यह युक्ति है कि संयोग जीवन की एक अनिवार्य वस्तु है। इससे बढ़ कर भूल और क्या हो सकती है? जो लोग सन्तानोत्पति को रोकना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे प्राचीन समय के ज्ञानियों के अनुभव और खोज से ढूंढे हुए प्राकृतिक उपायों से ही काम लें। उन्हें प्रयत्न करके यह जान लेना चाहिये कि वे आदर्श किस प्रकार फिर से स्थापित हो सकते हैं। उनके सम्मुख एक भारी सुधार का काम रखा हुआ है। छोटी आयु में विवाह कर देने से सन्तान अधिक होती है। जीवन की आज की प्रणाली और भोगमय रहन-सहन बिना मर्यादा के सन्तानोत्पति करने में साथ देते हैं। यदि वे कारण जान लिये जायं और उनका ठीक प्रबन्ध हो जाय तो समाज का आचार ऊंचा उठ जायगा। यदि अधीर युवक उनकी ओर ध्यान न देंगे और बनावटी उपायों को ही अपनाएंगे तो आचार-भ्रष्टता के अतिरिक्त अन्य कोई परिणाम नहीं होने वाला है।

एक समाज, जो पहले से ही कई कारणों से निर्बल हो चुका है, वह इन नकली साधनों को काम में लेकर और भी अधिक अशक्त हो जायगा। इसलिये वे लोग जो बिना सोचे समझे नकली उपायों का समर्थन कर रहे हैं, किसी प्रकार का लाभ नहीं पहुँचा सकते। उन्हें तो चाहिये कि वे उस नियम को अच्छी प्रकार समझ लें। अपनी हानि करने वाली बातों को रोकें और विवाहित और अविवाहित लोगों में ब्रह्मचर्य की शिक्षा का प्रचार करें। केवल यही उत्पत्ति रोकने का एक नेक और सही मार्ग है।

संयम ही उत्पत्ति को रोकने का सब से सही मार्ग है। बनावटी तरीकों से उसकी रोक करना जाति की आत्म-हत्या है।

—यंग इण्डिया : दिसम्बर ४, १९२७ ई०

बनावटी साधनों के पक्षपातियों में और मुझ में एक बात तो मिलती हुई है—अर्थात् सन्तानोत्पत्ति का सुधार करना और उसे वश में रखना। संयम से उसे वश में रखना निःसन्देह एक सुगम बात नहीं है। फिर भी यदि मनुष्य को ऊंचा उठना है तो उसके अतिरिक्त अपने लक्ष्य को पाने का अन्य कोई उपाय नहीं है। मुझे इस बात का पूर्ण भरोसा है कि यदि बनावटी तरीकों का उपयोग चलता रहा तो मनुष्य जाति को आचार-हीनता का संकट सहन करना पड़ेगा। नवीन उपायों के पक्षपाती यद्यपि इसके विरोध में बहुत कुछ कह सकते हैं, फिर भी मैं उन्हें मानने को उद्यत नहीं हूँ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं भ्रम के मार्ग पर नहीं हूँ। सचाई केवल इसीलिये सच्ची नहीं मानी जा सकती कि वह बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही है। परन्तु साथ ही यह बहुत पुरानी है इसलिये इस बात की भी आवश्यकता नहीं है कि अब हम उसको सन्देह की ही दृष्टि से देखने लगें। जीवन के कुछ नियम ऐसे हैं, जिन्हें केवल इसी विचार से कि उनका पालन करना एक टेढ़ी खीर है, हम ठुकरा नहीं सकते।

वास्तव में संयम से सन्तान-वृद्धि को रोकना एक कठिन कार्य है। परन्तु अभी तक किसी ने इस बात को सिद्ध करने का दावा नहीं किया कि यह मार्ग बनावटी साधनों की तुलना में उत्तम और अचूक नहीं है।

—हरिजन : दिसम्बर १२, १९३५ ई०

एक विवाहित जोड़े की जननेन्द्रियों का काम ऊँची श्रेणी की सन्तान उत्पन्न करने का ही है। ऐसा तभी हो सकता है और होगा जब कि दोनों भोग के लिये नहीं, किन्तु सन्तानोत्पत्ति करने के लिये ही मिलें। इसलिये सन्तान की इच्छा के बिना भोग की अभिलाषा नियम विरुद्ध माननी चाहिये और उसकी रोक करनी चाहिए।

—हरिजन : मार्च १४, १९३५ ई०

माना कि बनावटी उपायों से सन्तान की वृद्धि किसी अंश तक अवश्य कम हो जाती है। साधारण आय के लोगों के सिर के बोझे को हल्का बनाने में भी सहायता पहुँचती है। किन्तु इससे किसी मनुष्य और समाज को जो सदाचार की हानि पहुँचती है उसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। क्योंकि उसमें विशेष बात तो यह है कि वे जो संभोग करते हैं, केवल इच्छा पूर्ति के लिये ही करते हैं। उनके लिये विवाह एक पवित्र बन्धन नहीं है। इसका अर्थ यह हो जाता है कि हमारे सामाजिक आदर्श, जो कि अभी तक बहुमूल्य माने जाते हैं, उनका विनाश शुरू होगा। निःसन्देह जो लोग विवाह के प्राचीन सिद्धान्तों को ढोंग मान रहे हैं, उनके लिये यह युक्ति कोई महत्त्व नहीं रखती है। मैं अपना तर्क केवल उन लोगों के सम्मुख उपस्थित करता हूँ जो विवाह को एक पवित्र नियम मानते हैं, और जिन्होंने स्त्रियों को काम-पूर्ति की मशीनें बना कर नहीं रख छोड़ा है, परन्तु जो अपनी पत्नियों को मनुष्यों की माता और अपनी सन्तान की सच्ची साल-सम्हाल करने वाली महिला समझे हुए हैं।

—हरिजन : मई ३१, १९३६ ई०

संभोग का अर्थ

किसी बात का कारण ढूंढना अच्छा है। किन्तु प्रत्येक अवस्था में उसका पता लगा लेना संभव नहीं होता। सन्तान की इच्छा सभी को रहती है। परन्तु मुझे इसके लिये कोई जंचता हुआ कारण समझ में नहीं आता। यदि यह बात इस लिए है कि अपना नाम आगे अपनी सन्तान के रूप में वंश परम्परा से बना रहे—तो यह बात भी हमारी समझ में नहीं आती। यदि मेरा बताया हुआ कारण ध्यान में ठीक न भी आया तो इतना तो अवश्य होगा कि उसे एक बुरा विचार कोई नहीं कहेगा। इच्छा है और वह स्वाभाविक है। मैं अपने उत्पन्न होने के लिए कभी दुःखी नहीं हूँ। जो विचार मुझ में हैं उसको प्रकाश में लाना मैं नियम-विरुद्ध नहीं मानता। कुछ भी हो, जब तक मैं सन्तानोत्पत्ति में बुराई देखता हूँ और जब तक सुख के लिये जो संभोग किया जाता है उसे नियम विरुद्ध कहता हूँ तब तक मैं उसी संभोग को उचित मानूंगा जो सन्तानोत्पत्ति के लिये किया जाता है। मैं समझता हूँ स्मृतिकारों को यह बात बहुत अच्छी प्रकार ज्ञात थी। मनु ने केवल उन्हीं की उत्पत्ति पवित्र गिनी है जो पहले पहल पैदा हुए थे। अन्य लोगों को उन्होंने काम से उत्पन्न माना है। इस विषय पर मैं जितना ही अधिक शान्त मन से सोचता हूँ मुझे अपनी उस बात की सचाई अधिक जँचती जाती है, जिसको मैंने अपनाया है और जिस पर मैं बल देता आया हूँ। मुझे इस का कारण स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। कठिनाई तो यह है कि हम इस विषय से अपरिचित हैं। व्यर्थ ही इसको दबा कर रखने की चेष्टा की जा रही है। हमारे विचार पवित्र नहीं हैं। हम परिणाम भोगने से डरते हैं। हम अधूरे उपायों का सहारा लेते हैं। हम उन्हें पूर्ण और अन्तिम साधन मानते हैं। इस प्रकार उनका पालन बड़ा कठिन बनता जा रहा है। यदि हमारे विचार शुद्ध साफ रहें, यदि हमें अपनी सचाई पर विश्वास रहे तो हमारी बोली और काम दोनों पूर्ण होकर ही रहेंगे।

इस प्रकार यदि मुझे इस बातका विश्वास बना रहा कि मेरे भोजन का प्रत्येक ग्रास मेरे शरीर को सशक्त बनाता है और उसे दृढ़ रखता है, तो मैं अपनी जिह्वा की तृप्ति के लिए अपने भोजन को कभी नहीं लूंगा—मैं आगे यह भी विचार करूंगा कि यदि मुझे ऐसे पदार्थ जो भूख बुझाने या शरीर को बनाये रखने के लिए नहीं परन्तु स्वाद के लिए पसन्द है तो मैं उस स्थिति को रोग का लक्षण समझूंगा। और मैं उससे अच्छा होने का उपाय सोच निकालूंगा। मैं ठीक और स्वास्थ्यदायक मान कर उससे संतोष नहीं रखूंगा। वैसे ही यदि मुझे इस बात का पूर्ण भरोसा हो जाय कि भोग बिना सन्तानोत्पादन की इच्छा के नियम विरुद्ध और शरीर मन तथा आत्मा के लिए घातक है, तो निःसन्देह उसको दबाना मेरे लिए सरल हो जायगा—मुझे वह उस दशा से अधिक सरल प्रतीत होगा जब कि मुझे बात का ज्ञान न हो पाया कि वासनाओं के अधीन में रहना नियम विरुद्ध और हानिकारक है। यदि मैं यह समझ लूंगा कि वासना को जीतना नियम-विरुद्ध है तो मैं उसे एक रोग के समान मानकर उसके आक्रमणों को अपनी पूरी शक्ति से दबा दूंगा। उसका सामना करने के लिए मैं अपने में अधिक सामर्थ्य पाऊंगा। वे भ्रम में हैं, इतना ही नहीं झूठे हैं जो इस बात का दावा करते हैं कि हम भोग को नहीं चाहते हैं किन्तु विवश हैं, और इसीलिये उनकी रोक उन्हें निर्बल बनाती और नीचे गिराती है। यदि ऐसे सब लोग अपनी सही सही जाँच करें तो उन्हें ज्ञान होगा कि उनके विचार उन्हें धोखा देते हैं। उनके विचार उनकी इच्छाओं को बढ़ाते हैं और उनकी वाणी उनके विचारों के अनुरूप है। किन्तु दूसरी ओर यदि वाणी विचारों को ठीक प्रकट करती हो तो निर्बलता जैसी कोई वस्तु नहीं रह सकती। हार तो हो सकती है, किन्तु निर्बलता कभी नहीं रह सकती।

—हरिजन : अप्रेल २४, १९३७ ई०

ध्यान रखिये कि केवल एक मौलिक भूल के कारण से भयंकर परिणाम उठाना पड़ता है, अर्थात यह मान बैठना कि संभोग मनुष्य के लिये एक आवश्यक वस्तु है और बिना उसके न तो पुरुष और न स्त्री पूर्णतया अपनी शारीरिक उन्नति कर सकते हैं। जैसे ही एक व्यक्ति पर यह विश्वास जम जाता है और जैसे ही वह उस चीज को एक अच्छी चीज मानने लगता है, जो किसी समय उसके विचार से बुरी थी, तो उसके मन में कई पशु-वासना को बढ़ाने वाली बातें उत्पन्न हो जांयगी और उसे अपने में ही फंसाये रखेंगी।

—हरिजन : दिसम्बर २६, १९३० ई०

आचार का दिवाला सामान्य उपायों से दूर नहीं किया जा सकता है। उस दशा में तो यह सर्वथा असम्भव है जब कि अनाचार एक अच्छाई समझी जाती है और नैतिकता को लोग निर्बलता, रूढ़ि या अनैतिकता कह कर ठुकराते हैं। क्यों कि जो लोग सन्तान रोकने के कृत्रिम उपायों को काम में लाने के पक्षपाती हैं वे संयम को अनावश्यक और हानिकर मानते हैं। ऐसी स्थिति में इस अनुमति-प्राप्त (मंजूर शुदा) बुराई को केवल धार्मिक सहायता ही रोक सकती है। यहाँ पर धर्म का अर्थ केवल पुरोहिती धर्म से ही नहीं है। वह उससे कई गुना ऊंचा है। किसी व्यक्ति या समाज के जीवन में सच्चा धर्म अनन्त उथल-पुथल पैदा कर देता है। धार्मिक जागृति एक क्रांति है समाज के स्वरूप को ही बदल देने वाली और नये युग को लाने वाली है।

—हरिजन : जून २२, १९३६ ई०

सन्तान रोकने के कृत्रिम उपायों का जो समर्थन करते हैं उनकी इस युक्ति को ठीक नहीं मानता कि सामान्य लोग संयम को आचरण

में नहीं ला सकते। कोई कोई तो यहाँ तक कह बैठते हैं कि यद्यपि वे ऐसा कर भी सकते हों तो भी उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। चाहे वे अपने क्षेत्र में कितने ही ऊँचे आदमी क्यों न हों। मैं उनको बड़े विनय से और पूर्ण श्रद्धा से यह कहूँगा कि वे आत्म-संयम के गुणों के विषय में बिना अनुभव के बातचीत कर रहे हैं। मनुष्य की आत्मा के सामर्थ्य की सीमा बांधने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। ऐसी बातों में मुझ जैसे व्यक्ति की निश्चित साक्षी, यदि वह भरोसा करने योग्य है, तो न केवल अधिक मूल्यवान है बल्कि निर्णायक है। क्योंकि मैं जनता में महात्मा गिना जाता हूँ इसी कारण से मेरी साक्षी को किसी गहरी जाँच में ठुकरा देना ठीक न होगा।

—हरिजन : मई ३०, १६३६ ई०

जहाँ कहीं भी उत्पत्ति को रोकने के बनावटी तरीकों ने घर कर लिया है, वहां अनेक प्रकार की बुराइयां उत्पन्न हो चुकी हैं। जिन्हें वे भी अनुभव करते हैं जो उन्हें काम में लेते हैं। तो भी सन्तति को वश में रखने के शौकीन इस बात को नहीं समझ सके हैं, क्योंकि उन्हें भोग में कोई बुराई नहीं दीखती है। उनका तो यह पक्का विचार बद चुका है कि उत्पत्ति के रोक के उपायों का फैलाव करना आचार दृष्टि से अच्छा है।

—हरिजन : दसम्बर १२, १६३६ ई०

सुना जाता है कि जो लोग सन्तति-विरोध के बनावटी तरीकों के साथ भोग करते हैं, उन्हें बर्नार्डशा ने व्यभिचारी से कम नहीं बतलाया है।

—हरिजन : सितम्बर १२, १६३६ ई०

हम उस युग में होकर गुज़र रहे हैं जबकि मूल्यों का हेर फेर बड़ी शीघ्रता के साथ हो रहा है। हमें धीमे मिलने वाले परिणामों से सन्तोष नहीं होता है। हम केवल अपनी जाति के लोगों की भलाई से ही सन्तोष नहीं पाते हैं और न केवल अपने देश की ही। हम अनुभव करते हैं या करना चाहते हैं सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिए। यह बात मनुष्य को अपने लक्ष्य तक पहुँचने की दौड़ में एक भारी सफलता प्राप्त करने का प्रमाण दे रही है।

किन्तु हम धैर्य को छोड़ कर और हर एक पुरानी वस्तु को उसके पुरानेपन के कारण से ठुकरा कर मानव जाति के कष्टों को दूर करने का कोई मार्ग नहीं खोज सकेंगे। शायद हमारे पूर्वजों ने भी उन्हीं अस्पष्ट स्वप्नों को देखा था, जो आज हम में उत्साह उत्पन्न कर रहे हैं। जो उपाय इस प्रकार की बुराइयों को मिटाने के लिए उन्होंने काम में लिए, सम्भव है वे आज भी उस क्षेत्र पर जो कि बहुत व्यापक बन चुका है, सफल हो सकें। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि अहिंसा और सचाई केवल कुछ चुने हुए लोगों के लिए ही नहीं है किन्तु यह तो ऐसी बातें हैं जिन्हें सभी लोग अपने दैनिक जीवन में व्यावहार में ला सकते हैं। उसी प्रकार अत्म-संयम भी न केवल इने गिने महात्माओं के लिए ही है परन्तु सारी मनुष्य जाति के लिए है। और क्योंकि एक बड़े प्रमाण में लोग झूठे और क्रूर न बन जायँ मनुष्य को चाहिये वह अपने रहन सहन को नीचे न गिराये। उसी प्रकार यद्यपि बहुत संख्या में लोग आत्म-संयम के सन्देश को न भी अपनायें फिर भी हमें अपने रहन-सहन को नीचे नहीं गिराना चाहिये।

किसी कठिन मामले में एक विवेकी न्यायाधीश गलत फैसला नहीं देगा। वह अपने हृदय को कठोर बना लेगा। क्योंकि वह यह जानता है कि सब से सच्ची दया बुरे नियम को बनाने में नहीं है।

हमें चाहिये कि हम नाशवान् शरीर की निर्बलताओं को उसमें रहने वाली अमर आत्मा पर न लगायें। हमें अपने शरीर को उन नियमों के अनुसार ढालना है जो आत्मा को नियमित करते हैं। मेरी तुच्छ सम्मति में ये कानून थोड़े से और नहीं बदलने वाले हैं, और वे सारी मनुष्य जाति की समझ में आने और व्यवहार में लाने योग्य है। उनके उपयोग की सीमा में, न कि किस्म में भेद हो सकता है। यदि हम में विश्वास है तो हम उसे नहीं खोयेंगे, क्योंकि उसके उद्देश तक पहुँचने में और उसको अनुभव करने में तो मानव समाज को लाखों वर्ष लग सकते हैं। जवाहरलाल के शब्दों में—"हमें अपने सम्मुख ठीक आदर्श रखना चाहिये।"

—हरिजन : मई ३०, १९३६ ई०

जब स्त्री पुरुष दोनों काम-वासना को तो पूर्ण करना चाहते हैं किन्तु उस काम का परिणाम भोगने को उद्यत नहीं हैं तो वह प्रेम नहीं है। वह तो कामातुरता है। परन्तु यदि प्रेम पवित्र है तो पाशविक-वासना पलट जायगी और सही हो जायगी। हमें वासनाओं के विषय की पूर्ण शिक्षा नहीं मिलती है। यदि पति कहता है कि हमें बच्चे नहीं उत्पन्न करने चाहियें, किन्तु हमें तो अपना सम्बन्ध चालू रखना चाहिये, तो ऐसी बात को पाशविक वासना के अतिरिक्त क्या कह सकते हैं? यदि उन्हें और अधिक बच्चों की चाह नहीं है तो वे भोग को बन्द कर दें। जिस क्षण आप अपने प्रेम को अपनी काम-वासना की प्राप्ति में लगा देते हैं, उसी क्षण वह दुराचार के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यही बात भोजन के लिये भी लागू है। यदि भोजन स्वाद के लिये खाया जाय तो पाप है। आप मिठाई भूख को बुझाने के लिए नहीं खाते हैं। आप मजे के लिए मिठाइयां खाते हैं और रोगी होने पर डाक्टर से उसकी दवा माँगते हैं। शायद आप अपने डाक्टर से कहोगे कि व्हिस्की

(शराब) से मुझे चक्कर आ रहे हैं और इसलिये दवा दीजिये। यदि आप मिठाइयों को और व्हिस्की को ही काम में न लें तो कितना अच्छा हो।

—हरिजन : जून २७, १९३७ ई०

मैं इस सही परिणाम पर पहुँचा हूँ कि कम से कम जहाँ तक हिन्दुस्तान का सम्बन्ध है, सन्तान रोकने के नकली तरीके चालू करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो लोग हिन्दुस्तानी वातावरण में उनके प्रयोग का समर्थन करते हैं, वे या तो उन्हें जानते नहीं हैं या जान बूझ कर उनसे अनजान बने हुए हैं। किन्तु पश्चिम में भी यदि यह बात सिद्ध कर दी जाय कि जिन उपायों का समर्थन किया जा रहा है वे हानिकर हैं, तो विशेष रूप से हिन्दुस्तानी हालत की जांच करना व्यर्थ होगा।

यदि यह प्रकट कर दिया जा सके कि इन उपायों से सदाचार के नियम टूटते जा रहे हैं तो इन उपायों की आप से आप समाप्ति हो जायगी। इनके कारण से विषय-भोग बढ़ता जा रहा है और जिन घरों में ये साधन काम में लाये जा रहे हैं उनमें स्वास्थ्य सुधारने और आर्थिक स्थिति को ठीक करने की जगह पाशविक वासना को प्रोत्साहन मिलता जा रहा है। सामान्य स्थिति यह है। सदाचार तो प्रत्येक अवस्था में उत्पत्ति रोकने के इन उपायों को बुरा बतलाता है। पर्याप्त विचार के पश्चात् यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जिस प्रकार केवल शरीर को जीवित रखने के लिये ही भोजन को काम में लेना चाहिये, उसी प्रकार केवल सन्तानोत्पत्ति करने के लिये ही संभोग करना चाहिये। एक तीसरी स्थिति भी है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनका कहना है कि सदाचार कोई वस्तु ही नहीं है। या यदि उसका होना मान भी लिया जाय तो उसका वह अर्थ नहीं होगा कि संयम से जीवन व्यतीत किया जाय। उस दशा में उसका यह तात्पर्य हुआ कि हर तरह से काम-वासना को पूर्ण करना—

वहां तक पूरी करते रहना जहां तक कि स्वास्थ्य न बिगड़ जाय और उस वासना को पूरा करने की शक्ति बनी रहे।

—हरिजन : दिसम्बर २१, १६३७ ई०

मेरी सम्मति में भारत में सन्तति-विरोध के बनावटी तरीकों को किसी भी दशा में काम में लाना अनुचित है। क्या मध्यम स्थिति के लोगों के घरों में बहुत अधिक बाल-बच्चे हैं? किसी एक वैयक्तिक दृष्टान्त से यह सिद्ध नहीं होता कि मध्यम वर्ग के लोगों के घरों में बहुत सन्तान उत्पन्न होती है; मैंने देखा है कि हिन्दुस्थान में जो लोग इन उपायों का समर्थन करते हैं वे अधिकांश ऐसे हैं जिनके घरों में विधवाएं और युवती स्त्रियां है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहली स्थिति में नियम विरुद्ध सन्तान की रोक की जाती है न कि छिपे हुए संभोग की और दूसरी स्थिति में गर्भ न रह जाय उसकी रोक की जाती है न कि बलात्कार की।

—यंग इण्डिया : सितम्बर १६, १६२६ ई०

एक सन्तति--नियम की समर्थक

श्रीमती हाऊ मार्टिन इंगलैण्ड से सन्तान वृद्धि की रोक का पक्ष लेकिन यहाँ आई थी। उनकी तुलना उस बूढ़े किसान से की जा सकती है जो अपना सब कुछ निर्धनों की सेवा में लागा देने को उद्यत है। वह भारत में गरीबों की रक्षा का सन्देश लेकर आई थीं। और उनका विचार गाँधी जी को अपने विचारों का अनुयायी बना लेने का था या स्वयं गाँधी जी के विचारों के अनुसार बन जाने का था। निःसन्देह वह भारत में पहली बार आई हैं और वह यहाँ के गरीबों के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं रखती हैं। इस लिए उन्होंने बर्तानिया के गंदे देहातों

के बारे में अपना अनुभव बताया और निर्धन स्त्री के पक्ष में एक प्रबल तर्क किया। उन्हों ने बतलाया कि बेचारी औरत को विवश होकर मनुष्य की शक्ति के सामने झुकना पड़ता है।

उनकी पहली बात को सुनते ही गाँधी जी ने जवाब दिया कि वहाँ पर कोई भी स्त्री बेचारी नहीं है। बेचारी स्त्री पुरुष से अधिक सशक्त है। यदि आप मेरे साथ हिन्दुस्थान के देहातों में चलना पसन्द करें तो मैं आपको यह बात बतलाने को उद्यत भी हूँ। वहाँ पर आपको प्रत्येक स्त्री यही कहेगी कि बिना उसकी इच्छा के कोई भी पुरुष (जिसकी उत्पत्ति स्त्री से हुई है) उसके साथ संभोग नहीं कर सकता है। मैं इस बात को अपने व्यक्तिगत अनुभव पर अपनी पत्नी के विषय में कह सकता हूँ; और मेरा यह एक अकेला ही उदाहरण नहीं है। यदि किसी स्त्री में इतनी दृढ़ता है कि वह मरने तक के लिए तैयार है किन्तु अपने आपको किसी के वश में रखना नहीं चाहती तो उसे कोई भी शैतान वश में नहीं कर सकता। नहीं, यह बात तो पुरुष और स्त्री की इच्छा पर ही आश्रित है। पुरुष और स्त्री दोनों में भलाई और बुराई है और यदि हम बुराई को रोक सकते हैं, तो बहुत अच्छी बात है।

"किन्तु उस दशा में स्त्री को क्या करना चाहिये जब कि पुरुष अधिक सन्तान बढ़ जाने के डर से पर स्त्री के पास पहुँचता है?"

"इस प्रकार आप अब अपनी मूल-बात से हट रही हैं। यदि आप अपने विषय को समझने में भूल करती हैं तो आप ठीक परिणाम पर कभी न पहुँचेंगी। काल्पनिक बातें नहीं करनी चाहिएं और मनुष्य को मनुष्यता से और स्त्री को स्त्रीत्व से नीचे गिरना ठीक नहीं है। मुझे अपने सन्देश का आधार समझाइये। जब मैंने आप को यह कहा था कि आपका बनावटी तरीकों से सन्तानोत्पत्ति को रोकने का प्रचार आपके विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये पर्याप्त है तो उस मजाक में एक

वास्तविकता छिपी हुई थी। क्योंकि मैं इस बात को जानता हूँ कि कुछ पुरुष और स्त्रियां इस विचार की हैं कि सन्तति को रोकने में ही हमारी भलाई है। इसलिए मैं इसका आधार आपसे समझना चाहता हूँ।"

श्रीमती हाऊ मार्टिन ने कहा—"मैं इसमें संसार की भलाई तो नहीं देखती हूँ किन्तु मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक किसी न किसी प्रकार सन्तान वृद्धि की रोक न की जायगी तब तक सच्ची भलाई नहीं हो सकती है आप इसको अपने ढंग पर करेंगे और मैं अपने उपाय से। मैं आपके उपाय का भी समर्थन कर सकती हूँ किन्तु सभी अवस्थाओं में नहीं। आप एक उत्तम कार्य को बुरा बतलाते हैं। दो जीव ईश्वर के बहुत समीप हैं जबकी वे एक नवीन जीव को उत्पन्न करने को उद्यत हैं। उस काम में एक अत्यन्त ऊँची बात मौजूद है।

गाँधी जी ने उत्तर दिया—"इस में भी आप भूली हुई हैं। एक नवीन जीव को जन्म देना वास्तव में ईश्वर की समीपता का कार्य है। मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ। मैं जो चाहता हूँ वह यह है कि उस जीवन को पाने का मार्ग भी वैसा ही पवित्र हो। इसका तात्पर्य यह है कि पुरुष और स्त्री को केवल एक नवीन प्राणी को जन्म देने के लिये ही संभोग करना चाहिए, अन्य किसी उद्देश से नहीं। किन्तु यदि वे वासना-पूर्ति करने के लिए संभोग करें तो वे शैतान के बहुत समीप जा पहुँचते हैं। दुर्भाग्य से मनुष्य अपनी ईश्वर की समीपता को भूल जाता है; अपने में रहने वाले शैतान की खोज करने लगता है और अन्त में पशु से भी बुरा बन जाता है।"

"किन्तु आप पशु पर भी कलंक क्यों लगाते हैं?"

"नहीं मैं नहीं लगाता हूँ। पशु तो अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करता है। सिंह के उज्ज्वल गौरव को देखते हुए कहना पड़ेगा कि वह बहुत अच्छा पशु है और उसे पूरा अधिकार है कि वह मार कर मुझे

खा जाय किन्तु मुझे इस बात का अधिकार नहीं है कि मैं अपने नाखूनों को बढ़ाऊँ और आप पर घातक आक्रमण करूं। उस दशा में मैं अपने को नीचे गिरता हूँ और पशु से भी गया बीता बनता हूँ।"

श्रीमती हाऊ मार्टिन बोलीं—"मुझे दुःख है, मैं अपने विचारों को ठीक प्रकार प्रकट नहीं कर सकी। मैं इसी बात को स्वीकार करती हूँ कि अधिकांश बातों में ये तरीके उनके छुटकारे के नहीं हैं, किन्तु यह एक वस्तु है जो उन्हें जीवन में ऊँचा उठा सकती है। आप समझ गये होंगे कि मेरा क्या अभिप्राय है, यद्यपि मुझे इस बात का डर है कि मैं अपने विचार आपके सम्मुख स्पष्ट नहीं कर सकी हूँ।"

"अरे, नहीं। मैं आपसे कोई अनुचित लाभ उठाना नहीं चाहता। किन्तु मैं तो यह चाहता हूँ कि आप मेरे दृष्टि-विन्दु को समझ जांय। भ्रामक बातों को लेकर मत भागो। मनुष्य को दो में से एक रास्ता पसन्द करना है—ऊँचा या नीचा; क्योंकि उसमें शैतान भी रहता है इसलिए वह सुगमता से नीचे का मार्ग पकड़ता है और विशेषकर तब जब कि नीचे का मार्ग उस के सम्मुख सुन्दर रूप में रखा जाता है। जब बुराई को अच्छाई की पोशाक पहनादी जाती है तो लोग सरलता से उसकी ओर झुक जाते हैं। और 'मेरी स्टोप्स' और दूसरे लोग ऐसा ही कर रहे हैं। यदि मैं विलास के धर्म का प्रचार करने लगूं तो मैं जानता हूँ कि लोग दौड़ कर उसे अपनाने लगेंगे। मैं जानता हूँ कि चाहे लोग चिल्ला-चिल्ला कर आप का स्वागत करें और आप के सिद्धान्तों को मानने लग जाँय और आप को अपने उद्देश में सफलता भी प्राप्त हो जाय, फिर भी निश्चय है कि आप की दौड़ मृत्यु की ओर है; यद्यपि आप उस शैतानी का प्रसार कर रही हैं जिसे आप स्वयं समझ नहीं सकी हैं। शैतानी के प्रचार के लिये विचार-विनिमय या युक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह तो उसमें समायी ही रहती है; जब तक

उस पर अधिकार नहीं प्राप्त किया जायगा और वह दबाई नहीं जायगी तब तक रोग और महामारी का भय है।"

श्रीमती हाऊ मार्टिन जो कि अभी तक दैवी और आसुरीवृत्ति में कोई भेद नहीं देखती थी, कहने लगीं कि ऐसा कोई भेद नहीं है और दोनों एक सी हैं चाहे लोग कुछ भी समझें। सन्तान-निरोध की जो फिलौसफी है उसके पीछे यही भेद है और जो इस मत के समर्थक हैं उन्हें इस भारी भूल का ध्यान ही नहीं रहता है।

गाँधी जी ने पूछा—"इसलिए क्या आपके विचार से आसुरी और दैवी वृत्ति में कोई भेद ही नहीं है? क्या आप सूर्य पर विश्वास करती हैं? और यदि करती हैं, तो क्या आप छाया में विश्वास नहीं करती हैं?"

"आप छाया को शैतान क्यों कहते हैं?"

"अगर आप चाहें तो उसे अनीश्वर (बे खुदा) कह सकतीं है।"

"मैं नहीं सोचती कि छाया में ईश्वर नहीं है। सर्वत्र जीवन तो है।"

"जीवन का अभाव जैसी वस्तु अवश्य है। आप जानती हैं कि हिन्दू लोग अपने प्यारे से प्यारे की लाश को जला कर भस्म कर डालते हैं, जबकि उन्हें यह प्रतीत हो जाता है कि उसमें जीव नहीं है। यह सच है कि सभी जीवों में एक आधार भूत एकता है किन्तु उनमें भेद भी अवश्य है। उस एकता को देखने के लिए उसमें गहरा जाने की आवश्यकता है; वह केवल मन से नहीं देखी जा सकती, जिसके लिए आप प्रयत्न कर रही हैं। जहाँ सचाई है, वहाँ झूठ भी है; जहाँ प्रकाश है वहाँ छाया भी है। आप तब तक उस ऊँची चेतनता को नहीं समझ सकती हैं जब तक कि आप पूरी तरह से अपने मन, विवेक शक्ति और शरीर को अपने वश में न कर लेंगी।"

श्रीमती हाउ मार्टिन घबरा गईं और उन्हें दिया हुआ समय शीघ्रता से बीता जा रहा था। किन्तु गाँधी जी ने कहा—"नहीं, मैं आप को अधिक समय देने के लिये भी उद्यत हूँ। किन्तु उसके लिए आप को मेरे पास वर्धा आकर ठहरना होगा। मैं भी सन्तति-नियमन का उतना ही प्रबल समर्थक हूं जितनी आप हैं; और आप भारतवर्ष को तब तक न छोड़ें जब तक कि मुझे अपने विचारों के अनुकूल न बनालें या आप स्वयं मेरे विचारों को न मान जाँय।"

जब कि मैं इस रोचक बातचीत को सुन रहा था, अन्य आवश्यक कार्यों से उस बात को समाप्त करना पड़ा। उस समय मुझे ए०सी०सी० के सेंट फ्रेंसिस के ये महत्त्व के शब्द स्मरण हो आये—"प्रकाश ने नीचे देखा और अन्धकार दिखाई दिया।" मैं वहाँ जाऊँगा—प्रकाश बोला। शान्ति ने नीचे मुँह किया और युद्ध दृष्टिगोचर हुआ; शान्ति ने कहा—"मैं वहां जाउँगी।" प्रेम ने मुँह नीचा किया तो घृणा देखने को मिली। प्रेम ने कहा—"मैं वहाँ जाऊँगा।" इन शब्दों ने मूर्तरूप धारण किया और फिर वे हमारे बीच रहने लगे।

—हरिजन: फरवरी १, १९३५ ई०

जो लोग सन्तान निरोध के कृत्रिम उपायों को व्यवहार में लाते हैं वे आत्म-संयम के गुण को कभी नहीं सीख सकते। उन्हें इस की आवश्यकता भी अनुभव नहीं होगी। इनके व्यवहार से सन्तानोत्पति की रोक तो होगी किन्तु पुरुष और स्त्री दोनों की शक्ति का संहार होता जायगा। शायद स्त्री की अपेक्षा पुरुष की शक्ति अधिक नष्ट होगी। शैतान से लड़ाई में मुँह मोड़ना पुरुषत्व नहीं है।

—हरिजन: अप्रैल १७, १९३७ ई०

स्वामी ने कहा—"मैं अब अपने विषय को बदलूंगा। क्या आप सन्तानोत्पत्ति की रोक की तुलना में आत्म-संयम को पसन्द करेंगे ?"

"मेरा विचार है कि कृत्रिम सन्तान-निरोध या वे उपाय जिनसे सन्तति की रोक करना आजकल सिखाया जाता है और जिनका समर्थन पश्चिम के देश करते हैं, आत्म-घातक हैं। आत्म-हत्या से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि जिससे जाति की समाप्ति हो जाय। आत्म-घात का मैं एक गहरा अर्थ लेता हूं। मेरा तात्पर्य है कि ये उपाय मनुष्य को पशु से भी गया बीता बना देंगे; ये सदाचार के नियमों के विरुद्ध हैं।"

"परन्तु कहाँ तक हम बिना सोचे विचारे सन्तान-वृद्धि की उपेक्षा करते रहेंगे ? मुझे एक मनुष्य का ज्ञान है जो प्रति दिन एक सेर दूध खरीदता था और उसमें पानी मिला कर और औटा कर अपने बच्चों में बाँटा करता था। उस के प्रति वर्ष एक बच्चा उत्पन्न होता था। क्या आप के विचार में यह एक पाप नहीं है ?"

"अनावश्यक सन्तान उत्पन्न करना पाप है। किन्तु मैं समझता हूँ कि उससे अधिक बुरी बात यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने किये हुए कामों के परिणाम से बचे। ऐसा करना मनुष्य को मनुष्यता से गिराना है।"

"तो फिर सबसे अधिक क्रियात्मक मार्ग कौनसा है जिसके द्वारा मनुष्य को यह सचाई समझाई जा सकती है ?"

"सब से सीधा उपाय है आत्म-संयम का जीवन बिताना। क्रियात्मक दृष्टान्त मौखिक शिक्षा से बढ़ कर है।"

"किन्तु पश्चिम के लोग हम से पूछते हैं कि हमारी अपेक्षा तुम्हारे यहाँ छोटी आयु के बच्चे अधिक क्यों मरते हैं, और तुम्हारे यहाँ के लोगों की औसत आयु क्यों कम है ? यद्यपि तुम लोग अपने जीवन को पश्चिम के लोगों के जीवन की तुलना में अधिक आध्यात्मिक

माने हुए हो ? महात्माजी, क्या आपको सन्तान की अधिकता में भलाई दिखाई देती है ?"

"मैं तो सन्तान के सर्वथा नहीं होने में भलाई मानता हूँ।"

"तब तो सारा संसार समाप्त हो जायगा।"

"नहीं, संसार की समाप्ति नहीं होगी। वह एक अधिक अच्छे स्वरूप को धारण कर लेगा। किन्तु ऐसा कभी नहीं होगा, क्योंकि हम लोगों में कामोत्तेजना वंश-परम्परा से चली आ रही है। इसका अर्थ यह है कि इस वंशपरम्परा से प्राप्त आदत को रोकने के लिये कठिन प्रयत्न अपेक्षित है; और फिर भी वह एक सीधा सादा उपाय है। पूर्ण त्याग, पूर्ण ब्रह्मचर्य ही एक आदर्श उपाय है। यदि तुम उसके लिये साहस नहीं कर सकते हो तो प्रसन्नता से विवाह करो, परन्तु फिर भी आत्म-संयम का जीवन व्यतीत करो।"

"लोगों को यह बात सिखाई जाय उसके लिये क्या आपके पास कोई सफल व्यावहारिक पद्धति भी है ?"

"हाँ है, वही जो मैंने कुछ समय पूर्व आपको बतलायी है। पूर्ण आत्म-संयम को प्राप्त करना और फिर लोगों में जा कर उसी ढंग से जीवन बिताना। आत्म-संयम तथा विषय-भोग से दूर रहने के जीवन का प्रभाव जनता पर अवश्य पड़ता है। अपने पर विजय पाने के लिये जीभ पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह अपने प्रत्येक काम को चौकसी से करता है और स्वयं भी अत्यन्त सरलता से रहता है।"

स्वामी ने कहा—"मैं आपके अभिप्राय को समझ गया। सामान्य लोगों को आत्म-संयम के सुख का ज्ञान नहीं है और इसलिये हमारा ध्येय कर्तव्य है कि हम उन्हें यह बात बतलादें। किन्तु पश्चिम के लोगों

की युक्ति का जिसका कि मैं ने अभी आप के सामने वर्णन किया है; आपके पास क्या उत्तर है ?"

मैं नहीं मानता कि हम लोग पश्चिम के लोगों की तुलना में अधिक आत्मिक विचारों वाले हैं। यदि वैसा होता तो हम इतने नहीं गिर सकते थे। क्योंकि औसतन पश्चिम के लोगों का जीवन हम लोगों की अपेक्षा में अधिक ऊँचा है इसलिये यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उनका जीवन आध्यात्मिक ही है। जो आत्मोन्नति किये हुए हैं, वे एक उत्तम-जीवन का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं न कि एक लम्बे जीवन का।

—हरिजन : सितम्बर ७, १९३५ ई०

———

बहुत से सुधारक बड़ी शीघ्रता से सन्तति की रोक के लिये बनावटी तरीकों को काम में लाने की सम्मति इस लिये दे रहे हैं कि उनके मन में मनुष्य को सहायता पहुँचाने की आवश्यकता है। मैं उन से निवेदन करता हूँ कि वे इनके सेवन से उत्पन्न होने वाले बुरे परिणामों की ओर भी ध्यान दें। जिन लोगों तक वे इन्हें पहुँचाना चाहते हैं; वे कभी भी पर्याप्त मात्रा में इस से लाभ नहीं उठायेंगे। किन्तु जिन लोगों को उनका उपयोग नहीं करना चाहिये, वे करेंगे; यहाँ तक करेंगे कि उनका और उनके भागीदारों का भारी विनाश होगा। उनका सेवन स्वास्थ्य और सदाचार के लिये यदि लाभदायक होता तो कोई हानि नहीं थी।

हरिजन : मई ९, १९३६ ई०

———

सन्तानोत्पत्ति को रोकने वाले बनावटी उपाय शराब की बोतल से भी अधिक मन को लुभाने वाले हैं। किन्तु जिस प्रकार उस चमकीली शराब का प्रेम भयंकर है, उसी प्रकार ये उपाय भी प्रकृति के नियम के

विरुद्ध है। क्योंकि इन दोनों का उपयोग बहुत बढ़ चुका है, इसलिये निराश होकर उनका विरोध छोड़ दिया जाय ऐसा हमें भी मानना चाहिये। यदि विरोधी को अपने कार्य की सत्यता पर विश्वास है तो उसे अवश्य विरोध करना चाहिये। जो पुकार लोगों की भीड़ में कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकती है, वह बीहड़ जंगल में अपना प्रभाव डाल सकती है। क्योंकि उस जंगल वाली आवाज में चिन्तन है, मनन है और पूर्ण अटूट विश्वास है। किन्तु सामान्य पुकार में आमतौर पर आप को क्या मिलेगा? किसी व्यक्ति विशेष की प्रसन्नता का अनुभव या अनावश्यक बच्चों और उनको दुखी माताओं के लिये प्रकट की हुई झूठी और बनावटी सहानुभूति का मूल्य उतना ही है जितना किसी शराबी का होता है। दया की पुकार एक जाल है जिसमें गिरना भयंकर है। अनावश्यक बच्चों और उतनी ही सीमा तक माताओं के अनिवार्य कष्ट, उन के लिये दण्ड और सूचनाएं हैं, जिन्हें दयालु प्रकृति ने सोच कर ही दिया है। अनुशासन और संयम के नियम को तोड़ना आत्म-हत्या है। हमारी स्थिति परीक्षा-काल की है। यदि हम अनुशासन के जुए को उठाने से अस्वीकार करते हैं तो कायरों की तरह गिरते हैं; लड़ाई में पीठ दिखाकर भागते हैं और जीवन का एक-मात्र जो सुख है उसको खोते हैं।

—हरिजन : मार्च २७, १९३७ ई०

लोगों के कानों में यह बात गूँज रही है कि जिस प्रकार नियमानुसार लिया हुआ ऋण चुकना ही चाहिये और यदि नहीं चुकाया जाती है तो मानसिक पतन का दण्ड भोगना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार किसी की शारीरिक कामना को मिटाना भी एक पवित्र कर्तव्य का निबाहना है। यहाँ पर कामवासना को सन्तति उत्पन्न करने की इच्छा से पृथक कर दिया गया है। बनावटी साधनों से सन्तान की उत्पत्ति को रोकने

के पक्षपातियों का कहना है कि गर्भ तो मौके से रह जाया करता है। हाँ, यदि स्त्री और पुरुष सन्तान चाहते हैं तब तो ठीक है, नहीं तो उस की रोक की जा सकती है। मैं दावे के साथ कहता हूँ कि ऐसा कहना एक अत्यन्त भयंकर सिद्धान्त का प्रचार करना है। विशेषतया भारत के लिये तो यह एक बहुत बुरी बात है क्योंकि यहाँ तो मध्य-श्रेणी के लोगों में पुरुषों की जाति अधिक विलासी जीवन के कारण निर्बल हो चुकी है।

—हरिजन : मार्च २८, १९३६ ई०

परिशिष्ट—क्रोध

क्रोध एक प्रकार का पागलपन है और भले से भले काम उनके समर्थकों के क्षणिक पागलपन के कारण मिट्टी में मिल चुके हैं।

—यंग इण्डिया : सितम्बर १९२७, १९१९ ई०

महात्मा बुद्ध का कहना है कि अक्रोध से क्रोध को जीतो। किन्तु वह अक्रोध क्या है ? वह एक ऊँचा गुण है जिसका अर्थ है एक ऊँची श्रेणी की क्षमा या प्रेम। तुम में उस ऊँचे गुण की उस समय विशेष आवश्यकता है जबकि तुम किसी क्रोध से भरे मनुष्य के पास पहुँचते हो, उस के क्रोध का कारण समझो। यदि तुम्हारे कारण उसको कोई हानि हुई हो तो उस से क्षमा माँगो। उसे अपनी भूल को समझाओ। उसे अच्छी प्रकार समझा दो कि क्रोध करना बुरी बात है। आत्मा के इस ऊँचे गुण को पहचानने और उसी के अनुसार ठीक ठीक आचरण करने से न केवल वही मनुष्य ऊँचा उठता है परन्तु उसके चारों ओर का वातावरण भी, इस में सन्देह नहीं। वही मनुष्य उसका आचरण

कर सकता है जिसके मन में इतनी ऊँची श्रेणी का प्रेम है। इस प्रकार का प्रेम निरन्तर प्रयत्न करने से प्राप्त किया जा सकता है।

—यंग इण्डिया : जून १२, १६२८ ई०

मैं कभी कभी अपने पर बड़ा क्रोध कर बैठता हूँ। मैं उस शैतान से छुटकारा पाने के लिये प्रार्थना भी करता हूँ; और ईश्वर ने मेरे क्रोध को दबाने के लिये मुझे शक्ति दे रखी है।

—यंग इण्डिया : नवम्बर १२, १६३१ ई०

प्रश्न—आप को क्रोध नहीं आता है। ऐसी प्रसिद्धि है। क्या यह बात ठीक है?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं है कि मुझे क्रोध नहीं आता है। मैं क्रोध को प्रदर्शित नहीं करता। मैं शान्ति और अक्रोध के गुण को अपनाता जा रहा हूँ और साधारणतया यह कहना चाहिये कि मुझे उसमें सफलता मिलती है। किन्तु मैं अपने क्रोध को ही दबाता रहता हूँ, जब कभी भी वह मुझ पर आक्रमण करता है। मुझ से यह पूछना व्यर्थ है कि मैं क्रोध पर कैसे संयम कर लेता हूँ, क्योंकि यह तो एक आदत है, जिसे मनुष्य को सीखना चाहिये; और निरन्तर प्रयत्न करके उसमें सफलता प्राप्त करनी चाहिये।

—हरिजन : मई १, १६३५ ई०

विचार शब्द का रूप धारण करता है और शब्द क्रिया के स्वरूप में आता है।

विचार शक्ति

वर्तमान युग के वैज्ञानिक भी विचारों की शक्ति मानते हैं। इसी लिए कहा जाता है कि मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही वह बन जाता है। जो हत्या का विचार करता है वह घातक बन जाता है। इसके विपरीत जो सचाई और अहिंसा के विषय में सोचता है, वह सच्चा और अहिंसक बनता है; और वह मनुष्य जो अपने विचारों को ईश्वर में लगाता है, ईश्वरीय बन जाता है। —हरिजन : जनवरी ११, १९३६ ई०

———

सदा मन, वचन और कर्म से एक से बने रहो। अपने विचारों को पवित्र और शुद्ध रखने के प्रयत्न में रहो और फिर सब अपने आप ठीक हो जायगा। विचारों से बढ़ कर शक्तिशाली कोई पदार्थ नहीं है। सभी कार्य शब्दों के अनुसार होते हैं और शब्द विचार के अनुसार होते हैं शब्द एक प्रबल विचार का परिणाम है। जहाँ विचार प्रबल और पवित्र होते हैं वहाँ सदा परिणाम भी पवित्र और प्रभावशाली ही होता है। —हरिजन : अप्रैल २४, १९३७ ई०

———

सत्य ही मेरे जीवन का आधार है। ब्रह्मचर्य और अहिंसा तो सचाई के पश्चात् उत्पन्न हुए हैं। इसलिये तुम जो कुछ करो; अपने आप के लिये और संसार के लिये सच्चे बने रहो। अपने विचारों को मत छिपाओ। यदि उन्हें प्रकट करना लज्जाजनक है तो उनसे अधिक लज्जा-जनक उनका सोचना है। —हरिजन : अप्रैल २४, १९३७ ई०

———

मैं इस लिये ईश्वर का कृतज्ञ हूँ कि पिछले कई वर्षों से मैं विचारों के छिपाने को एक पाप समझने लगा हूँ; विशेषतया राजनीति में। यदि

हम जो कुछ कहें या करें उसका साक्षी ईश्वर को मानें, तो हमें संसार में कोई भी बात किसी से छिपानी न पड़े। क्योंकि हम अपने पिता के सामने गन्दे विषयों को नहीं सोचेंगे; फिर बोलने की तो बात ही क्या है? गन्दगी को ही छिपने और अन्धेरा ढूंढने की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य की आदत बुराई को छिपाने की होती है; हम गन्दी चीजों को न तो देखना और न छूना ही चाहते हैं। हम उन्हें अपनी दृष्टि से दूर रखना चाहते हैं; और वही बात हमारी वाणी के लिये भी कही जा सकती है। मैं तो यह सलाह देता हूँ कि हमें उन विचारों को कभी सोचना ही नहीं चाहिये जिन्हें हम कहना नहीं चाहते हैं।

—यंग इण्डिया : दिसम्बर १२, १६२२ ई०

मौन धारण करने के गुण

मुझे प्रायः ऐसा प्रतीत हुआ है कि सचाई के साधन को मौन रखना पड़ता है। मैं मौन के भारी प्रभाव को जानता हूँ। मैं दक्षिण अफ्रिका में एक गिरजाघर के पादरी को मिलने के लिये गया। वह स्थान बड़ा रमणीय था। वहाँ के कई निवासियों ने मौन व्रत लिया हुआ था। मैंने पादरी साहब से इसका अभिप्राय पूछा। उन्होंने कहा- "इस का उद्देश स्पष्ट है। हम मनुष्य दुर्बल हैं। प्रायः जो कुछ हम बोलते हैं, उसे हम समझ नहीं पाते हैं। यदि हम अपने अन्दर के धीमे शब्द को सुनना चाहते हैं, जो कि रात-दिन हमारे हृदय में होता है, तो वह तब तक नहीं सुनाई देगा जब तक हम निरन्तर बोलते रहेंगे।" मैं उस बहुमूल्य शिक्षा को समझ गया। मैं मौन के रहस्य को जानता हूँ।

—यंग इण्डिया : अगस्त ६, १६२५ ई०

कई ऐसे अवसर आते हैं जब कि मौन रहना बुद्धिमत्ता का लक्षण होता है।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर १७, १६२६ ई०

मेरा विश्वास है कि जनता के प्रत्येक सेवक को प्रायः मौन स्वीकार करना पड़ता है। इस से अपनी लोकप्रियता तक को संकट में डालना पड़ता है और उस से भी बुरा बदला भोगना पड़ता है। क्योंकि अवसर आने पर उसे अपने मन की बात को प्रकट करना ही होता है; चाहे उस से अपना जीवन भी संकट में क्यों न पड़ता हो।

—यंग इण्डिया : अक्टूबर १७, १६२६ ई०

क्योंकि मैं कोई भी काम आध्यात्मिक उद्देश्य को सम्मुख रखे बिना नहीं करता हूँ; इसलिये इस चुप रहने से मुझे आत्मिक लाभ हुआ है। चुप रहना उस मनुष्य के लिये एक आवश्यक वस्तु बन जाती है, जिसका जीवन निरन्तर सत्य की खोज में ही व्यतीत हो रहा है। परन्तु चुप रहना इस से कई गुना गम्भीर वस्तु है। उस दशा में तो लिखा पढ़ी से भी जो काम लिया जाता है, उसे भी रोकना चाहिये। सचाई स्वयं प्रत्येक कार्य में बोल उठेगी—यदि उसे बोलना पड़ा तो। परन्तु यह बोलना लिखे हुए शब्दों में न होगा।

—हरिजन : अप्रैल २७, १६३५ ई०

मौन धारण करने में एक और भी लाभ है। उसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे इन चार सप्ताहों में हुआ है। अन्य लोगों की तरह मुझे भी क्रोध आता है; किन्तु मैं उसको सफलता से दाब सकता हूँ। हाँ, मुझे यह भी प्रतीत हुआ है कि शायद चुप्पी के बराबर मनुष्य के क्रोध

को दबाने का अन्य कोई भी उपाय नहीं है। यदि कोई चुप ही बना रहे, तो उस के क्रोध को कैसे बढ़ाया जा सकता है? आंखों से नहीं। जब किसी मनुष्य ने इस बात का पक्का निश्चय कर लिया है कि वह किसी को चोट नहीं पहुँचायगा तो वैसी दशा में उस के शरीर पर आक्रमण कर के भी कभी उस को क्रोधी नहीं बनाया जा सकता। लिख कर भी ऐसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि लिखते लिखते ही क्रोध शान्त हो जायगा।

चुप रहने के कई अन्य लाभ भी हैं जिनका मैं वर्णन कर सकता हूँ, परन्तु इतने ही पर्याप्त हैं। मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मैं अपनी इस चुप्पी को समाप्त करना नहीं चाहता था। मुझे इस बात का भय था और मैं प्रायः मौन रहना पसन्द करता हूँ; यदि मास दो मास के लिये नहीं तो कम से कम थोड़े समय के लिये ही सही।

फिर कार्लाइल के इस कथन पर आश्चर्य करने का कारण ही क्या है—

"बोली चाँदी है तो चुप्पी सोना है।"

—हरिजन : अप्रैल १७, १९३५ ई०

———

सुनिए, मेरी यह अभिलाषा है कि मैं आप लोगों को चुप रहने की शिक्षा दे जाऊँ। अनुभव के बिना बोलना न तो ठीक है और न अच्छा ही होता है और न शुद्ध। मैं आप से निवेदन करूंगा कि आप लोग अपनी वाणी को बन्द रखा करें किन्तु हाथ व पांव को सदा अपनी जाति की सेवा के लिये काम में लाते रहें। यदि आप कुछ वर्षों तक ऐसा करते रहेंगे तो आप उन शब्दों को बोल सकेंगे जिनका कुछ मूल्य होता है, जिनकी गिनती होती है और जो कभी व्यर्थ नहीं जाते।

—हरिजन : मई ४, १९३५ ई०

मौन-साधन की शक्ति

प्रश्न—आपने जो सबसे बड़ी बात की है वह यह है कि आप प्रति सोमवार को मौन रहते हैं। उसके सम्बन्ध में आपका कथन है कि मैं उसके द्वारा अपनी शक्ति को संचित करता हूँ; जिसे आवश्यकता पड़ने पर काम में लाता हूँ। आपकी आत्मिक उन्नति के कार्यों में उसका क्या स्थान है?

उत्तर—"मैंने जो कुछ किया है उसमें यह सब से बड़ा कार्य बिल्कुल नहीं है। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि यह मेरे लिये एक बड़ी चीज है।"—गाँधी जी ने कहा। "मैं प्रायः प्रतिदिन ही थोड़ा बहुत मौन रखता हूँ। मुझे इस बात की चाह है कि मैं सप्ताह में एक दिन से भी अधिक चुप रहूँ। यरवदा की जेल में मैंने एक बार १५ दिन की चुप्पी का पालन किया था। उस समय मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई थी। किन्तु इस मौन का समय तो चढ़े हुए पिछले कार्य को पूर्ण करने में लगा रहा हूँ। कुछ भी हो यह तो एक साधारण सा लाभ है। सच्चा मौन तो वह है जिसमें न तो किसी को पत्र तक लिखा जाय और न लेख द्वारा किसी से बातचीत की जाय। जबकि आकाश के प्यारे गीतों को सुनने का समय होता है तो ये पत्र मौन की पवित्रता को नष्ट कर देते हैं। यही कारण है कि मैं प्रायः यह कह दिया करता हूँ कि मेरी चुप्पी ढोंग है। —हरिजन : दिसम्बर २६, १६३६ ई०

———

अब तो मुझे इसकी शरीर और आत्मा दोनों के लिए आवश्यकता प्रतीत होती है। आरम्भ में इसलिये यह चुप्पी ग्रहण की गई थी कि इससे थकावट को दूर किया जाय। उसके पश्चात् मुझे लिखने के लिये समय की आवश्यकता हुई। जब मैंने कुछ दिन तक इसका पालन किया

तो मुझे ज्ञात हुआ कि इसमें आत्मिक बल बढ़ाने का सामर्थ्य है। एका-एक मुझे यह बात समझ में आई कि इस समय में ईश्वर-प्राप्ति की साधना सब से अच्छी प्रकार की जा सकती है। और अब तो मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि मानो मैं मौनव्रत पालने के लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ। मुझे यह प्रकट कर देना चाहिये कि मैं अपने बाल्य-काल से ही अपनी चुप्पी के लिये प्रसिद्ध हूँ। जब मैं लन्दन में था तब मेरे मित्र मुझे एक चुप रहने वाली मक्खी ही समझते थे।

—हरिजन : दिसम्बर १०, १९३८ ई०

मौन और स्वास्थ्य

(१) जब मैं मौन धारण करता हूँ तब मेरे रक्त के दबाव में न्यूनता आ जाती है। मेरे डाक्टर मित्रों ने मुझे यही सम्मति दी है कि आप जितना चुप रह सकें अवश्य रहें।

(२) इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि जब जब मैंने चुप्पी धारण की तब तब उसके पश्चात् मुझ में कार्य करने का सामर्थ्य बढ़ गया। मैं अपने मौन के समय में जितना अधिक कार्य कर सका हूं, उतना अन्य समय में कभी नहीं कर सका हूं।

(३) मौन के अवसर में मन को जितनी शान्ति मिलती है उतनी इसके बिना कभी नहीं प्राप्त होती। कहने का तात्पर्य यह है कि मौन रहने के निश्चय का ही एक बड़ा शान्तिदायक प्रभाव होता है। वह मेरे सिर का एक भारी बोझा दूर करता है। मुझे अनुभव से प्रतीत हुआ है कि मौन जिस मानसिक विश्राम और आराम को देता है, वह किसी औषधि से प्राप्त नहीं हो सकता। मुझे तो इसके कारण नींद भी आती है।

सूचना—मैंने बन्दी-गृहों में देखा है कि ऐसे बन्दी जो अकेले ही रखे जाते हैं, क्रोधी बन जाते हैं; क्योंकि उन्हें विवश होकर चुप रहना पड़ता है। मैंने ऊपर जिस सामर्थ्य का वर्णन किया है, वह चुप्पी के द्वारा तभी प्राप्त किया जा सकता है; जब मनुष्य के मन में मौन के लिये सच्चा प्रेम हो। इसलिये किसी भी मनुष्य को केवल अनुकरण के लिये या मैंने जो ऊपर बतलाए हैं उन्हीं लाभों को पाने के लिये चुप्पी को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये। सबसे अच्छी बात तो यह है कि मौन को चिकित्सकों की सम्मति लेकर व्यवहार में लाना चाहिये। यह कहना उचित होगा कि मैं इस समय मौन की आध्यात्मिक आवश्यकता और लाभों का वर्णन नहीं करता।

—हरिजन: अक्टूबर २८, १९३९ ई०

———

उस दिन जब श्री शरच्चन्द्र बोस यहाँ थे तब मैंने उनसे पूछा था कि क्या आप गाँव गये थे? उन्होंने कहा कि "हाँ, मैं गया था और मैंने गाँधीजी से बहुत लम्बी-चौड़ी बात भी की थी। किन्तु गाँधीजी ने तो एक समाचार-पत्र के टुकड़े पर केवल इतना लिखा—"अपने परिवार के लोगों को मेरा आशीर्वाद कहें।" तब वे पूर्व की ओर जा रहे थे। मैंने गाँधीजी से प्रश्न किया—"क्या आप दिल्ली में भी मौन चालू रखेंगे? उसका उत्तर उन्होंने केवल सिर हिला कर हाँ में ही दे दिया। उसके पश्चात् मैंने फिर यह पूछा कि "क्या आप सीमा-प्रान्त में भी उसे चालू रखेंगे?" फिर भी उन्होंने सिर ही हिला कर हाँ में उत्तर दिया।

मेरी समझ में नहीं आता कि यह सब कैसे होता है; किन्तु मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि उनकी विशेष इच्छा यह है कि वे अनिश्चित काल तक मौन चालू रखें। इस मौन के समय में उन्होंने कई बार लिखा है—"कैसी कृपा है कि मैं मौन हूँ।" इसमें कोई सन्देह

नहीं कि इस के द्वारा उन्हें असीम प्रसन्नता या दुःख के अवसरों पर (जबकि उन्हें क्रोध भी करना पड़ता) उनसे छुटकारा मिला।

यदि मनुष्य इस पर विचार करता है तो उसको ज्ञात होता है कि संसार के आधे कष्ट मौन के द्वारा नष्ट हो सकते हैं। नवीन सभ्यता का हम पर प्रभाव पड़ने से पूर्व चौबीस घंटों में से छः से आठ घंटे तक हमें मौन के लिए प्राप्त होते थे। नवीन सभ्यता ने हमें रात को दिन में बदल देने की और सोने की तरह चमकती हुई चुप्पी को पीतल की नाईं भद्दे शोर में बदल देना सिखाया है। हम प्रतिदिन इस चहल-पहल के जीवन से कम से कम एक दो घंटे पृथक् रह कर यदि उस विशाल शान्ति के शब्द को सुनने का प्रयत्न करें तो कितना अच्छा होगा? परमात्मा की मधुर रेडियो की मीठी तान सदा चालू है। आवश्यकता है केवल इस बात की कि हम उसको सुनने के लिये उद्यत हो जायें। किन्तु बिना चुप रहे उसका सुनना असम्भव है। मौन से उत्पन्न होने वाल उत्तम परिणाम के सम्बन्ध में महात्मा टेरेसा ने क्या ही अच्छा लिखा है?

"आपको एक दम प्रतीत होगा कि आपकी सभी इन्द्रियां एक स्थान पर इकट्ठी हो चुकी हैं। वे उन मधु-मक्खियों की भांति दिखाई देंगी जो बाहर से आकर अपने छत्तों पर लौटती हैं और शहद बनाने के काम में लगी रहती हैं। यह सब बिना आपके प्रयत्न और चिन्ता के होगा। आपकी आत्मा जो इस प्रकार की कठोरता को अपनाती है उसका पारितोषिक आपको ईश्वर देता है। आपकी आत्मा का सभी इन्द्रियों पर इतना प्रभुत्व हो जाता है कि फिर वे आपके इशारों पर नाचने लगती हैं। जब चाहो तब और जैसा चाहो वैसा काम उनसे करवा सकते हो। आत्मा की पुकार को सुनते ही वे तुरन्त दौड़ कर आती हैं। अन्त में इस प्रकार का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर पूर्ण शान्ति और पूर्ण सुख मिलता है।

बुराई

बुराई को भलाई के सामने झुकना पड़ता है ; और कभी कभी वह जिस मार्ग को पसन्द करती है वह इस आशा से कि भलाई अपनी ऊँची स्थिति से नीचे न गिर जाय चाहे उसके चारों ओर बुराई का जमाव कितना ही क्यों न बना रहे।

—यंग इण्डिया : जनवरी १६, १९३० ई०

अपराध और बुराई की बढ़ती प्रायः अँधेरे में हुआ करती है। जब प्रकाश उनपर चमकने लगता है, वे अदृश्य हो जाते हैं।

—हरिजन : दिसम्बर ३१, १९३३ ई०

पाप बुराई के समान छिपा हुआ ही बढ़ता है, किन्तु सूर्य के प्रकाश में उसका नाश हो जाता है।

—यंग इण्डिया : फरवरी २, १९२२ ई०

एक औसत श्रेणी के मनुष्य के लिये बुराई से दूर भागना अधिक अच्छा रहता है अपेक्षा इसके कि वह उसमें ही बना रहे और सोचे कि उसका प्रभाव उस पर न होगा। बहुत से मनुष्य अच्छों के सहवास में रह कर भी बुरे बने रहते हैं ; किन्तु ऐसे बहुत मनुष्य नहीं होते जो गन्दे क्षेत्र में रहकर भी उसके प्रभाव से बचे रहें।

—यंग इण्डिया : अगस्त ६, १९२५ ई०

भलाई

विश्वास रखना एक गुण है, निर्बलता ही सन्देह और अविश्वास उत्पन्न करती है। —यंग इण्डिया : दिसम्बर ३१, १६१६ ई०

जिस क्षण हम बुराई और भलाई में भेद करना भूल जायेंगे, उसी क्षण हमारी उन्नति रुक जायगी।

—यंग इण्डिया : सितम्बर १५, १६२१ ई०

तम्बाखू पीना

मैं तम्बाखू का पीना उतना ही बुरा समझता हूँ जितना कि शराब का पीना। तम्बाखू का पीना मेरे विचार में एक बुराई है। इससे इन्सान की समझ मारी जाती है। और यह शराब से भी बुरी इसलिये है कि इसका बुरा प्रभाव अनजान में बढ़ता ही जाता है। एक बार मनुष्य उसका अभ्यासी हो जाता है तो बड़ी ही कठिनाई से उससे छुटकारा पा सकता है। यह एक व्ययसाध्य बुराई है। यह सांस को गंदा बनाती है; दांतों को सड़ाती है और कभी कभी केन्सर का रोग उत्पन्न करती है। यह एक गंदी आदत है। —यंग इण्डिया : जनवरी १३, १६२१ ई०

एक प्रकार से तम्बाखू का पीना शराब से भी बुरा है। क्योंकि इसकी बुराई को मनुष्य ठीक समय पर समझ नहीं पाता है। इसको लोग बुराई नहीं मानते हैं; सभ्य लोग भी इसे अपनाते हैं। मेरा तो यही कहना है कि वे लोग जो इसे छोड़ सकते हैं छोड़ दें और दूसरों के लिये दृष्टान्त बनें। —यंग इण्डिया : फरवरी ४, १६३६ ई०

मैं अब सिगरेट, चाय और कौफी (कहवा) पीने के बारे में अपने विचार प्रकट करूँगा। ये चीजें ऐसी नहीं हैं जिन्हें हम जीवन की आवश्यकताओं में गिन सकें। कुछ लोग ऐसे हैं जो कहवा की दस-दस प्यालियाँ एक दिन में पी जाते हैं। क्या इस तरह वे अपने स्वास्थ्य को उन्नति पर पहुँचा सकते हैं? यदि जागते रहने के लिये ही उन्हें चाय और कहवा पीने की आवश्यकता होती है तो उन्हें चाहिये कि वे सो जायँ किन्तु चाय और कहवा न पीएं। हमें इन वस्तुओं का दास नहीं बनना चाहिये। किन्तु चाय और कहवा पीने वालों में अधिक संख्या ऐसे ही लोगों की है जो उनके गुलाम बने हुए हैं। बीड़ी या सिगरेट, चाहे वे देशी हों या विदेशी, तुरन्त ही छोड़ देना चाहिये। सिगरेट का पीना नींद लाने वाली औषधि के समान है और जिन सिगारों को तुम पीतें हो, उन पर अफीम लगी हुई है। उसका असर तुम्हारी नसों पर पड़ता है और फिर तुम उन्हें नहीं छोड़ सकते। अरे, तुमने अपने मुँह को एक धुँआ निकालने वाली नली बना कर कैसे बिगाड़ रखा है? यदि तुम बीड़ी और सिगरेट, तथा चाय और कहवा पीना छोड़ दो तो तुम्हें प्रतीत हो जायगा कि तुम एक भारी व्यर्थ व्यय से बच गए हो। टॉल्सटाय की एक कहानी में एक पियक्कड़ (शराबी) एक खून करने के कार्य में हिचकिचा रहा है; क्योंकि उसने अपनी चुरुट नहीं पी है; किन्तु जब वह पी लेता है तो मुस्कराने लगता है और कहता है—"मैं कितना डरपोक हूँ?" फिर हाथ में तलवार लेता है और अपना कार्य करता है। टाल्सटाय अपने अनुभव से कहता है। उसने व्यक्तिगत अनुभव के बिना के कुछ नहीं लिखा है। वह चुरुट और सिगरेट के जितना विरुद्ध है उतना शराब के भी नहीं। किन्तु ऐसी भूल कभी मत करना कि शराब और तम्बाकू की तुलना में शराब को एक छोटी बुराई मान लो। नहीं, शराब और सिगरेट दोनों बराबर की बुराइयाँ हैं।

—यंग इण्डिया : सितम्बर १५, १९२७ ई०

यदि हरेक पियक्कड़ इस घृणित अभ्यास को छोड़ दे और अपने मुँह को चिमनी न बनाय, अपने साँस को गंदा न करे, दातों को न सड़ाये, और अपनी कोमल नसों को सुन्न न होने दे और अपनी बचत का कुछ भाग देशोन्नति के लिये देने लग जाय तो वह अपने आपकी और अपनी जाति की एक भारी सहायता करेगा।

—यंग इण्डिया : जुलाई ५, १९२८ ई०

शराब पीने की बुराई

इस विचित्र युक्ति को सुन कर आप भुलावे में न आ जायँ कि "हिन्दुस्तान को नशा करने से बल पूर्वक रोका न जाय; और जो नशा करना चाहें उन्हें सुविधायें दी जायँ।" शासन का कर्तव्य यह नहीं है कि वह अपनी प्रजा के लिये बुराइयों के अड्डे बनाये रखे। हम बुराई के अड्डों पर किसी प्रकार का नियमानुसार प्रतिबन्ध रोक-थाम नहीं कर रहे हैं। हम चोरों को चोरी करने के लिये अवसर नहीं देते हैं। मैं सोचता हूं कि शराब पीने को रोकने के लिये ऐसे कठोर नियम बनाए जायं जो चोरी और व्यभिचार को रोकने के नियमों से भी अधिक कठोर हों। क्या सुरा-पान चोरी और व्यभिचार दोनों को नहीं उत्पन्न करता ?

—यंग इण्डिया : फरवरी २३, १९२२ ई०

औषध और शराब शैतान के दो हाथ हैं जिनके द्वारा वह अपने असहाय दासों को पागल और मत्त बनाता है।

—यंग इण्डिया : अप्रैल १२, १९२६ ई०

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि बच्चों के शिक्षण के विषय में मेरे क्या विचार हैं ? मैं दावे के साथ यह सम्मति प्रकट करता हूँ कि हमारे देश के लिये यह बात अत्यन्त लज्जा की है कि शराब की बुराई से सरकार को जो प्राप्ति होती है उसी के द्वारा हमारे बच्चों को शिक्षा दी जाती है। सन्मुख हमें अपनी सन्तानों का शाप लगेगा, यदि हम बुद्धिमत्ता के साथ शराब के प्रचार को बन्द करने का दृढ़ निश्चय न कर लेंगे। इस के लिये चाहे हमें विवश होकर अपने बच्चों की शिक्षा के लाभ को छोड़ना भी पड़े तो भी चिन्ता नहीं; किन्तु हमें शराब के प्रचार की आवश्यकता नहीं है। शिक्षा के व्यय के लिये विद्यालयों और कालेजों में सूत का काम चालू कर के और उससे धन प्राप्त करके उन संस्थाओं को आत्म-निर्भर बनाने की सम्मति जब मैंने प्रकट की तो मुझे स्मरण है आप में से बहुत से लोग हँसे थे। मैं आप को विश्वास दिलाता हूँ कि शिक्षण के प्रश्न को जैसा यह उपाय सुलझा सकेगा, वैसा अन्य कोई नहीं। देश में इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह नये नये कर चुका सके। यहाँ तक कि वर्तमान समय में जो जो कर लिये जा रहे हैं, वे ही कुछ कम नहीं हैं। यदि हम यह चाहते हैं कि शीघ्र ही हमारे देश की दरिद्रता को समाप्त किया जाय तो हमें न केवल अफीम शराब की आय को ही रोकना है परन्तु साथ ही अन्य भी कई प्रकार के करों को किसी योग्य सीमा तक कम करवाना है। —यंग इण्डिया : जनवरी २१, १९२५ ई०

भारत में ऐसा कोई कारण नहीं है कि यह प्रश्न धारा सभाओं के सदस्यों के सम्मुख इसलिये उपस्थित किया जाय कि वे इस पर रोक करना ठीक समझते हैं या नहीं। क्योंकि हमारे यहां तो दवा और दारू दोनों ही प्रायः बुरे माने जाते हैं। पश्चिमी देशों में शराब का पीना एक फैशन की वस्तु है। किन्तु भारत में नहीं है। इसलिये चुने हुए

सदस्यों की सम्मति पर इस प्रश्न को छोड़ देना, इसे तुच्छ बना डालना है। —यंग इण्डिया : अप्रैल २२, १६२६ ई०

मैंने यह सम्मति देते हुए सर्वथा संकोच नहीं किया कि साम्राज्य-वादी शासन का यह नीच कार्य है कि उसने करों के इस अत्यन्त घृणित साधन को प्रान्तों को सौंप दिया और इस कुत्सित कर के द्वारा भारत के विद्यार्थियों के शिक्षा व्यय का चलाना स्थिर रखा।

—यंग इण्डिया : सितम्बर ८, १६२७ ई०

ऐसी युक्ति देना कि ऐसा करने से मनुष्य के वैयक्तिक अधिकारों पर आंच आती है उतना ही अयुक्त है जितना कि यह कहना कि किसी चोर को चोरी करने से रोकना उसके व्यक्तिगत अधिकारों को छीनना है। चोर संसार की सब सम्पत्ति को चुराता है, एक शराबी अपने और अपने पड़ोसियों के मान को चुराता है।

—यंग इण्डिया : जनवरी ६, १६२७ ई०

भारत एक ऐसा देश है जिसमें इसे सर्वथा रोका जा सकता है। कारण भी स्पष्ट है। हमारे देश में शराब का पीना एक ऊँची और गौरव की वस्तु नहीं है। उसे तो केवल कुछ जातियों के लोग ही काम में लेते हैं। —यंग इण्डिया : २३, १६२७ ई०

मैं तो दृढ़ता से कहता हूँ कि किसी बुरी वस्तु की रोक सरकारी नियमों के द्वारा करना बहुत ही छोटी और विनाश करने वाली बात है। लोग शराब इसलिये पीते हैं कि उनकी दशा बहुत बुरी हो चुकी है।

कल-कारखानों में काम करने वाले श्रमिक और अन्य लोग ही शराब पीते हैं। वे अकेले रहते हैं, उन पर कोई ध्यान नहीं देता है और इसीलिये उनको शराब पीने का अभ्यास हो गया है। शराब के पीने वाला मनुष्य स्वभाव से बुरा नहीं है और न शराब का छोड़ने वाला मनुष्य प्रकृति से पीर या पैगम्बर ही है। अधिकांश लोगों पर अपनी परिस्थितियों का ही प्रभाव पड़ता है। —यंग इण्डिया : सितम्बर ८, १९२७ ई०

मैं मादक शराब को पीना उन छोटी छोटी चोरियों के अपराध से अधिक बुरा समझता हूँ जो मैं देखता हूँ कि भूखे मनुष्य और भूखी स्त्रियां किया करती हैं और जिन्हें न्यायालय से दण्ड भी दिया जाता है। यह सच है कि मैं अनिच्छा से ही साधारण दण्ड-शैली का सहन करता हूँ, क्योंकि मुझ में इस बात की न्यूनता है कि मैं प्रेम के नियम को पूर्णतया समझ नहीं पाया हूँ। और जब तक मैं ऐसा विश्वास रखता हूँ मैं यह कहूँगा कि उन लोगों को कठोर दण्ड दिया जाय जो तेज शराब बनाते हैं और उन्हें भी जिन्होंने शराब नहीं पीने के लिए सूचनाओं के प्राप्त होने पर भी शराब को नहीं छोड़ा। यदि मेरे बच्चे धधकती हुई आग की लपटों की ओर या गहरे पानी की ओर बढ़ते हों तो मैं बिना किसी संकोच के उनकी ओर भाग कर उनको बचाने का प्रयत्न करूँगा। नशीली शराब का पीना धधकती हुई आग या नदी की उठती हुई बाढ़ में गिरने से भी अधिक भयंकर है। आग और बाढ़ तो केवल शरीर को ही समाप्त करेंगी। किन्तु शराब तो शरीर और आत्मा का नाश करेगी।

—यंग इण्डिया : अगस्त ८, १९२९ ई०

ठंडे देशों के लिये चाहे कोई भी बात सच्ची क्यों न हो, मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि हमारे देश की जलवायु तो ऐसी नहीं

है जिसमें किसी भी प्रकार की शराब पीने की आवश्यकता हो। जो जाति शराब पीने की शिकार बन चुकी है उस पर नाश के बादल मँडरा रहे हैं। इतिहास साक्षी देता है कि इसी व्यसन से बड़े बड़े साम्राज्य मिट्टी में मिल चुके हैं। हमें ज्ञात है कि हमारे देश में श्री कृष्ण जी के कुल का नाश इसी व्यसन के कारण से हुआ था। रोम के साम्राज्य के नाश के जितने भी कारण थे उनमें से यह सब से बड़ा था। इसलिये यदि आप अच्छी तरह रहना चाहते हैं तो इस बुराई को दूर कर दें; अब भी समय है। —यंग इण्डिया : अप्रैल ११, १६२६ ई०

दवा और दारू उन लोगों के सदाचार को मिट्टी में मिला देती है जो उनके दास बन जाते हैं। विदेशी कपड़ा किसी जाति की आर्थिक दशा की नींव को खोखला बनाता है और लाखों को बेकार बनाता है। इन दोनों का फल घरवालों को ही भोगना पड़ता है और इसीलिये स्त्रियों को। केवल वे स्त्रियां ही जिनके पति शराबी हैं इस बात को अच्छी प्रकार जानती हैं कि शराब पीने का भूत उन घरों में कितना भयंकर अनर्थ मचाता है जहाँ किसी समय सब सुखी और प्रसन्न थे। झोंपड़ियों में रहने वाली हमारी लाखों-करोड़ों बहनें इस बात को अनुभव करती हैं कि बेकारी का वास्तविक अर्थ क्या है ?

—यंग इण्डिया : अप्रैल १०, १६३० ई०

समाप्त

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

Ticket No.	Issue Date	Return Date	Ticket No.	Issue Date	Return Date